न्यू इण्डिया प्रेस कनाट सर्कस न्यू दिल्ली

विषय-सूची



भारतेन्दु के साहित्यिक आदर्श



हिन्दी गद्य के विकास में भारतेन्दु की प्रतिभा ने जो कार्य किया वह उनके पूर्व के गद्य-लेखकों की सम्मिलित शक्तियों से भी नहीं हो सका था। इतनी बात तो मान्य है कि भारतेन्दु के पूर्ववर्ती लेखकों ने गद्य में साहित्य-रचना की भावना को जन्म अवश्य दे दिया था। पद्यमय साहित्य-सृष्टि की सीमित प्रवृत्ति से विकास की स्थिति प्रकट होने लगी थी और धर्म की भावना भी गद्य से प्रकाशित होने का मार्ग खोज रही थी। विट्ठलनाथ और गोकुलनाथ की पुष्टिमार्ग सम्बन्धी कथित वार्ताएं, सदासुख, लल्लूलाल और सदल मिश्र की धार्मिक और नीति सम्बन्धी आख्यायिकाएं, सैयद इंशा की प्रयोगात्मक ठेठ कहानी और शिवप्रसाद सितार-ए-हिन्द और राजा लक्ष्मणसिंह की क्रमशः ऐतिहासिक और साहित्यिक कृतियां गद्य का शिलान्यास ही नहीं कर चुकी थीं; वरन् उसके निर्माण की ओर अग्रसर भी हो चुकी थीं। आवश्यकता इस बात की थी कि गद्य में पद्य की भांति साहित्यिक सौन्दर्य की सृष्टि की जावे। गद्य भी उतना ही सुथरा और स्पष्ट हो जितना पद्य। उसमें भी पद्य जैसी सुरुचि और व्यंजना हो। इस प्रकार के गद्य का निर्माण भारतेन्दु की लेखनी से हुआ। इस कथन को और भी स्पष्ट करना आवश्यक है।

भारतेन्दु की लेखनी से चल कर ही गद्य इसीलिए उनके द्वारा गद्य की परिष्कृत-शैली सम्पादित हुई। वस्तुतः इस स्थिति के शीघ्र पा जाने में

अभी समय की अपेक्षा थी क्योंकि भारतेन्दु के पूर्व लेखकों का दृष्टिकोण ही दूसरा था। गोकुलनाथ और सदासुख का आदर्श धार्मिक विचारों का प्रचार था। अतएव गद्य के सौन्दर्य की ओर वे ध्यान नहीं दे सकते थे। इस प्रकार लल्लूलाल और सदल पाठ्य पुस्तकें लिखते हुए भी उपदेशात्मक प्रवृत्ति की अवहेलना नहीं कर सके। इंशा ने तो मनोरंजन के लिए भाषा के साथ विनोद किया है। शिवप्रसाद और लक्ष्मणसिंह ने गद्य की रूप रेखा सोचना प्रारम्भ कर दिया था पर दोनों अपने-अपने आदर्शों के लिए लड़ रहे थे। शिवप्रसाद ने अरबी और फ़ारसी शब्दों की ओर रुचि दिखलाई और लक्ष्मणसिंह ने ब्रजभाषा के प्राचीन शब्दों की ओर ममता प्रदर्शित की। इस प्रकार शिष्ट गद्य की आवश्यकता अनुभव करते हुए भी भारतेन्दु के पूर्ववर्ती लेखक असफल रहे।

गद्य के इस परिष्करण में बहुत सी शक्तियां काम कर रही थीं। पहली तो यह थी कि शृंगार के बोझ से लदी हुई ब्रजभाषा की कविता ने एक ही विषय के पिष्टपेषण से कुरुचि उत्पन्न कर दी थी। इस प्रकार कविता जो साहित्य की एकमात्र शासिका थी अपने महत्व के पद से गिरने लगी और रुचि-वैचित्र्य के लिए गद्य की आवश्यकता ज्ञात हुई। दूसरी बात यह थी कि साहित्य के अंगों का निरूपण पद्य में विस्तार-पूर्वक स्पष्टता के साथ नहीं हो सकता था, इसलिए भी गद्य की आवश्यकता हुई। तीसरी बात यह थी कि अंग्रेजी शासन ने भावों की परिधि बहुत विस्तृत कर दी थी और अनेक विषयों की विवेचना के लिए गद्य का सहारा लेना अनिवार्य हो गया था। साथ ही साथ अंग्रेजी

और बंगला साहित्य के सम्पर्क मे आने से हिन्दी साहित्य ने उनके नाटक और उपन्यास के वैभव की ओर दृष्टिपात कर उसी मार्ग का अवलम्बन भी किया। इसके लिए गद्य की आवश्यकता हुई और साहित्यिक गद्य के निर्माण की भावना प्रधान रूप से सामने आई। ईसाइयो के धर्म-प्रचार और स्कूलो की पाठ्य-पुस्तको ने भी परिष्कृत गद्य के लिए मार्ग तैयार किया पर भारतेन्दु जिस प्रवृत्ति से शुद्ध गद्य लिखने के लिए प्रेरित हुए थे वह अंग्रेज़ी और बंगला की साहित्य-श्री से ही उद्भूत हुई थी। क्योंकि हम देखते हैं कि भारतेन्दु जी का सब से पहला नाटक बंगला नाटक 'विद्यासुन्दर' का अनुवाद ही है और 'सत्य हरिश्चन्द्र' उनके मित्र बा० बालेश्वरप्रसाद बी० ए० की इच्छा से अंग्रेज़ी नाटको की शैली पर ही लिखा गया है।

सब से पहले भारतेन्दु ने गद्य की भाषा की ओर ध्यान दिया। उन्होंने भाषा को सरल और शुद्ध कर उसे मधुर और प्रवाहयुक्त बना दिया। भारतेन्दु ने भाषा को प्राचीन लेखको की ब्रजभाषा, बिहारी अथवा उर्दू फ़ारसी के अत्यधिक प्रभाव से मुक्त कर ऐसा परिष्कृत और शिष्ट रूप दिया जो अपने सहारे खड़ा हो सके और अन्य भाषाओं के साथ अपनी संस्कृति लेकर नवीन युग का सन्देश दे सके। ऐसा गद्य साहित्य मे कितना लोकप्रिय हुआ, यह उनके समकालीन गद्य की प्रगति से ज्ञात हो सकता है।

भाव की दृष्टि से भी भारतेन्दु ने युग-परिवर्तनकारी साहित्य की सृष्टि की। भक्ति, नीति और शृंगार की परिधि में ही साहित्य कैद था। भारतेन्दु ने नवयुग के देश-प्रेम, जाति-प्रेम, समाज-संगठन आदि विषयों

से अपनी कृतियों की रूपरेखा बनाई और साहित्य में उन्नतिशील और तत्कालीन जीवन की प्रवृत्तियों का चित्र खींचकर साहित्य को सजीव बनाया।

इस प्रकार भारतेन्दु ने भाषा और भाव दोनों का परिष्करण किया। भाव के दृष्टिकोण से उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में क्रान्ति सी उपस्थित कर दी। सामाजिक क्रान्ति उन्होंने नीलदेवी (२५ दिसम्बर सन् १८८१, सम्वत् १९३८) में ऐतिहासिक गीतिरूपक के रूपमें लिख कर की। वे भूमिका में स्वयं लिखते हैं :—

"इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूं कि इन गौरांगी युवती समूह की भांति हमारी कुललक्ष्मीगण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमैं किन्तु और जिन बातों में जिस भांति अंग्रेजी स्त्रियां सावधान होती हैं, पढ़ी लिखी होती हैं, घर का काम-काज संभालती हैं, अपने सन्तानगण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहिचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं, और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह ही में नहीं खोतीं, उसी भांति हमारी गृहदेवता भी वर्तमान दीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति-पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्तमान कुल-परंपरा मात्र है और कुछ नहीं है। आर्यजन मात्र को विश्वास है कि हमारे यहां सर्वदा स्त्रीगण इसी अवस्था में थीं। इस विश्वास के भ्रम को दूर करने के हेतु यह ग्रन्थ विरचित होकर आप लोगों के कोमल करकमलों में समर्पित होता है।"

बाबू श्यामसुन्दरदास जी के मतानुसार "जिस आदर्श को सामने रखकर भारतेन्दुजी ने इसकी रचना की है उसकी सिद्धि इसमें नहीं होती। इससे तो केवल प्रतिहिंसा के भाव को उत्तेजना मिलती है।"१ अपने अधिकार और गौरव की रक्षा करने के लिए यदि उग्र रूप धारण करने की आवश्यकता हो, तो वह प्रतिहिंसा नहीं कही जा सकती। नीलदेवी अपनी मर्यादा का निर्वाह करने, 'दासत्व स्वीकार' न करने, "कौशल से लड़ाई" करने और अपने पति सूर्यदेव की मृत्यु का दण्ड देने के लिए ही गायिका का रूप धारण करती है और अमीर अबदुश्शरीफ के "लो जान साहब" कहने पर अपने सतीत्व की रक्षा करने के लिए ही "कटार निकाल कर अमीर को मारती है।"२ इसमें स्त्री के लिए साहस, उत्साह, पातिव्रत, शील और क्रियात्मक होने की शिक्षा है। आर्य-गौरव की रक्षा के साथ-साथ स्त्री-आदर्श की प्रेरणा भी भारतेन्दु के नाटक में स्पष्ट लक्षित होती है। इस प्रकार वे समाज में स्त्री को मर्यादापूर्ण शक्ति से समन्वित देखना चाहते हैं।

भारतेन्दु ने धार्मिक क्रांति 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन (संवत् १९३०, सन् १८७३) में प्रदर्शित की। धर्म के नाम पर कितना आडम्बर, अनाचार और पाखंड होता है, इसी का सजीव वर्णन उस प्रहसन में है। पूजा करने के लिए कितनी हिंसा होती है, इसका वीभत्सपूर्ण वर्णन उस प्रहसन में किया गया है। प्रथम अंक में राजा कहता है "तो कल हम बड़ी पूजा करेंगे। एक लाख बकरा और बहुत

---

१ भारतेन्दु नाटकावली, प्रस्तावना, पृष्ठ ६८

२ भारतेन्दु नाटकावली, पृष्ठ ३६४

से पत्नी मगवा रखना।" 'भागवत' 'मनुस्मृति' 'पराशरस्मृति' आदि के उद्धरणों का उपहास किया गया है। अन्त मे 'नासिकेतोपाख्यान' की भाति जिसने जैसा कर्म किया है, उसके अनुसार उसे यमराज के द्वारा दड की व्यवस्था दी गई है। इस प्रकार भारतेन्दु ने धर्म के क्षेत्र से पाखड, हिसा, आडम्बर आदि के निर्वासित करने की निश्चित धारणा प्रदर्शित की है। जब चतुर्थ अक मे राजा यमराज से हाथ जोडकर कहता है—"महाराज, मैने तो अपने जान सब धर्म ही किया-कोई पाप नही किया; जो मास खाया वह देवता पितर को चढ़ाकर खाया और देखिए 'महाभारत' मे लिखा है कि ब्राह्मणो ने भूख के मारे गोवध करके खा लिया पर श्राद्ध कर लिया था इससे कुछ नही हुआ...... अग्रेजो के राज्य मे इतनी गोहिसा होती है, सब हिन्दू बीफ खाते है उन्हे आप नही दड देते और हाय, हमसे धार्मिक की यह-दशा, दुहाई वेदो की, दुहाई धर्मशास्त्र की, दुहाई व्यासजी की, हाय रे मैं इनके भरोसे मारा गया" तब उसे कोडे लगते है और वह 'अधतामिस्र' नामक नरक मे डाला जाता है। शैव और वैष्णव अपनी 'अकृत्रिम भक्ति' से कैलाश और वैकुंठ का वास पाते है और ईश्वर से 'सामीप्य मुक्ति प्राप्त करते है। शैव और वैष्णव अत मे 'भरतवाक्य' मे स्वार्थमय धर्म के दूर होने की मगल-कामना करते है। इस 'भरतवाक्य' मे भारतेन्दु का कंठस्वर गूज रहा है:—

निज स्वारथ को धरम दूर या जग सों होई।
ईश्वर पद में भक्ति करैं छल बिनु सब कोई॥
खल के विष बैनन सो मत सज्जन दुख पावै।
छुटै राज-कर मेघ समय पै जल बरसावैं॥

इसके अतिरिक्त 'श्रीहरिश्चन्द्रकला' के चतुर्थ भाग'† ('भक्तसर्वस्व') में जितने ग्रन्थ सग्रहीत हैं* । उन सभी से भारतेन्दु के धार्मिक आदर्शों का परिचय प्राप्त होता है । वे श्री वल्लभीय सम्प्रदाय के थे । उन्ही के शब्दो मे "हम तो मोल लिए या घर के । दास दास श्री वल्लभकुल के चाकर राधावर के" और "हम तो श्री वल्लभ को जानै । सेवत वल्लभ पद पंकज को वल्लभ ही को ध्यावैं ।...हरीचद वल्लभपद बल सों इन्द्रहु को नहिं मानैं" । वे श्रीकृष्ण के उपासक थे । 'श्रीहरिश्चन्द्र कला' के पाचवे भाग "काव्यामृत प्रवाह" मे भक्ति और धार्मिक आदर्शों का बडा सजीव और प्रेममय चित्रण है । अपने प्रेम के आदर्श को स्पष्ट करते हुए वे 'तदीयसर्वस्व' की भूमिका मे कहते है—"हमारा धर्म ऐसा निर्बल और पतला हो गया है कि केवल स्पर्श से या एक चुल्लू पानी से मर जाता है । कच्चे गले सडे सूत व चिउटी की दशा हमारे धर्म को हो गई हैं । हाय !!!

---

†रायबहादुर रामरणविजयसिंह द्वारा सग्रहीत, खड्गविलास प्रेस, बाकीपुर से प्रकाशित, सन् १६२८ (सवत् १६८५)

*वे ग्रन्थ इस प्रकार है –भक्त सर्वस्व, वैष्णव सर्वस्व, वल्लभीय सर्वस्व, तदीय सर्वस्वयुगल सर्वस्व, भक्ति सूत्र वैजयन्ती, सर्वोत्तम स्तोत्र भाषा, उत्तरार्ध भक्तमाल, उत्सवावली, वैष्णवता और भारतवर्ष, अष्टादश पुराणोपक्रमणिका, वैशाख महात्म्य, कार्तिक कर्मविधि, कार्तिक नैमित्तिक कृत्य, कार्तिक स्नान, मार्गशीर्ष महिमा, माघ स्नानविधि, पुरुषोत्तम मास विधान पुरुषोत्तम पंचक, गीतगोविन्दानन्द, कुरानशरीफ तथा ईशू खीष्ट और ईश कृष्ण, तहकीकातपुरी की तहकीकात ।

. इससे मुक्तकण्ठ से कहा गया है कि केवल प्रेम परमेश्वर का दिव्य मार्ग है। निश्चय रक्खे कि परमेश्वर को पाने का पथ केवल प्रेम है। और बातें चाहे धर्म की हों या लोक की, दोनों वेदी ही हैं। बिना शुद्ध प्रेम न लोक है, न परलोक। जिस संसार में परमेश्वर ने उत्पन्न किया है, जिस जाति व कुटुम्ब से तुम्हारा सम्बन्ध है और जिस देश में तुम हो उससे सहज सरल प्रेम करो और अपने परम पिता परम गुरु परमपूज्य परमात्मा प्रियतम को केवल प्रेम से ढूंढो। बस और कोई साधन नहीं है।"

राजनीतिक क्रान्ति उन्होंने अपने देश-प्रेम का ज्वलन्त उदाहरण देकर साहित्य-प्रेम के साथ ही प्रदर्शित किया। अपने देश-प्रेम का परिचय उन्होंने 'भारत दुर्दशा' लिख कर दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने अन्य ग्रन्थों में भी अपने देश-प्रेम की झलक इंगित कर दी है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में उनकी राष्ट्रीय भावना इतनी स्वतन्त्र हो गई है कि वे अपने को रोक भी नहीं सके और नाटक के अंत में 'भरत-वाक्य' के रूप में उन्होंने राजा हरिश्चन्द्र के मुख से यह कहला दिया :

खल जनन सों सज्जन दुखी मत होहिं हरिपद रति रहै।
उपधर्म छूटै सत्व निज भारत गहै कर दुख बहै॥

— 'भारतेन्दु नाटकावली', पृष्ठ ४६०

'यहा सत्व निज भारत गहै' से पराधीन भारत के पूर्ण स्वतंत्र होने की ओर संकेत है। इसका कारण शायद यह हो कि यह समय सन् १८५७ के विद्रोह के बाद का था और जनता के हृदय में इस समय राज्य के प्रति असन्तोष आ गया था। इस प्रकार भारतेन्दु अपने समय

में भी भारत की स्वाधीनता का स्वप्न देख रहे थे। 'भारत दुर्दशा' नाट्य रासक* में आधुनिक परिस्थितियो का चित्रण किया गया है। भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के करुणापूर्ण वर्णन के साथ आधुनिक कुरीतियो का बहुत सजीव चित्रण किया गया है। भारत-वासियो की अकर्मण्यता का भी बहुत विनोदपूर्ण वर्णन है। अन्त मे भारत भाग्य का लम्बे स्वगत-कथनो में भारत की दुर्दशा पर आंसू बहाते हुए आत्मघात करना पाठको के हृदय मे करुण भावना की सृष्टि करता है। इसमे भारतेन्दु का देश-प्रेम प्रत्येक पंक्ति से लक्षित होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि नाटककार के हृदय में देश मे प्रचलित कुरीतियो और देश को नष्ट करनेवाले दोषो के प्रति आतंक क्षोभ है और वह भारत के उद्धार के लिये कोई मार्ग नही देख रहा है। तभी तो भारत-भाग्य से आत्मघात कराकर वह दर्शको और पाठको को भारत की वर्तमान वस्तु-स्थिति से पूर्ण परिचित करा देता है। इस निराशापूर्ण अन्त से यद्यपि नाटककार कोई उज्ज्वल भविष्य की कल्पना नही करता तथापि वह अपने पाठको के हृदय में देश की दशा पर आंसू बहाकर उसके प्रति प्रेम अवश्य जगा देता है। इस प्रकार दुःखान्त नाटक ही में नाटककार अपने उद्देश्य की चरम सफलता पाने का प्रयत्न करता है।

---

* एक प्रकार का उपरूपक, दृश्य काव्य। इसमे केवल एक ही अंक होता है। नायक उदात्त, नायिका वासकसज्जा, उपनायक पीठमर्द होते हैं। इसमें प्रत्येक प्रकार के गान और नृत्य होते हैं।

शब्दसागर, पृष्ठ १७६१

यहां यह कह देना आवश्यक होगा कि भारतेन्दु के समय में देश की व्यवस्था परिवर्तनकाल में थी। इस समय राजनीति के क्षेत्र में अनेक विप्लव हो गए थे और शासन और सभ्यता का दूसरा ही दृष्टिकोण हो गया था। पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव देश में व्यापक रूप में हो गया था और जनसमुदाय की दृष्टि देश के संगठित स्वरूप की ओर जाने लगी थी। यही कारण था कि भारतेन्दु ने जनता की भावना का प्रतिबिम्बित्व अपने नाटकों में बड़ी सफलता के साथ किया। एक बात अवश्य हमारे सामने आती है। यद्यपि भारतेन्दु ने कहीं-कहीं अवसर पाकर जनता की स्वतन्त्र होने वाली इस प्रवृत्ति का प्रकाशन कर दिया है तथापि वे सभी स्थानों पर ऐसा नहीं कर सके। इसका कारण सम्भवतः राज्य-भय हो, क्योंकि भारतेन्दु ने अपने स्वतन्त्र विचार की घोषणा करते हुए भी अपने नाटकों के अनेक स्थलों पर अपनी राज-भक्ति प्रदर्शित की है, यद्यपि उस राज-भक्ति के अन्तराल में देश-भक्ति की अजस्र धारा प्रवाहित है। उदाहरणार्थ :

(अ) भारत—(डरता और कांपता हुआ रोकर)...हाय, परमेश्वर बैकुण्ठ में और राज्यराजेश्वरी सात समुद्र पार, अब मेरी कौन दशा होगी ?[१]

(आ) भारत भाग्य—अब सोने का समय नहीं है। अंगरेजों का राज्य पाकर भी न जगे तो कब जागोगे ?[१]

---

[१]भारत दुर्दशा, भारतेन्दु नाटकावली, पृष्ठ ६००

[१]वही, पृष्ठ ६३५

(इ) भारत भाग्य—हा, भारत, तेरी क्या दशा हो गई ? हे करुणा-सागर भगवान, इधर भी दृष्टि कर ! हे भगवती राजराजेश्वरी, इसका हाथ पकड़ो ।१

(ई) भण्डाचार्य—*हरिपद मे रति होइ न दुख कोऊ कहं व्यापै ।*
*अंगरैजन को राज ईस इत थिर करि थापै ॥*२

इन उद्धरणों को देखकर हम कह सकते है कि भारतेन्दु के हृदय मे देश-भक्ति और राज-भक्ति का अन्तर्द्वन्द्व अवश्य था । अवसर पाकर करुण परिस्थितियों के चित्रण मे देश-भक्ति स्पष्ट रूप से स्वतन्त्रता की ओर संकेत करती है । नीलदेवी' के सातवें अंक मे भारतेन्दु भारत के अन्धकारपूर्ण भाग्य का वर्णन करते हुए कहते हैं :

स्वाधीनपनो बल धीरज सबहि नसैहै ।
*मङ्गलमय भारत भुव मसान ह्वै जैहै ॥*३

अपने नाटको मे भारतेन्दु ने पश्चिमी सभ्यता का वर्णन अवश्य किया है, पर उन्होंने यह बतलाया है कि भारत की संस्कृति ही भारत के लिए श्रेयस्कर है :

जहं भीसम करन अर्जुन की छटा दिखाती ।
तहं रही मूढ़ता कलह अविद्या राती ॥

× × ×
× × ×

१वही, पृष्ठ ६३६

२.विषस्य विषमौषधम्, भारतेन्दु नाटकावली, पृष्ठ ५६३

३नीलदेवी, भारतेन्दु नाटकावली, पृष्ठ ६६१

अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी ॥१

इस प्रकार हम भारतेन्दु के हृदय में भारत के यथार्थ रूप की चित्ररेखा पाते हैं। उनकी राष्ट्रीयता बहुत ही परिष्कृत है। उनके सामने भारत के अधिकारों का प्रश्न है। वे 'राज-कर' के भी विरुद्ध हैं। इसीलिए तो वे "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" के भरतवाक्य में लिखते हैं :

खल के विष बैनन सो मत सज्जन दुख पावैं।
छुटै राज-कर मेघ समय पर जल बरसावैं ॥२

उनके सामने राष्ट्र की एकरूपता का चित्र है पर वे किन्हीं परिस्थितियों के कारण उसे स्पष्ट रूप से सामने नहीं रख सकते। उनके हृदय में देश के 'स्वत्व' के प्राप्त करने की आकांक्षा है और वे उस आकांक्षा को हिन्दी पाठकों के सामने यथावसर रख भी देते हैं।

उन्होंने जो साहित्यिक क्रान्ति की है उससे तो इतिहास की रूपरेखा ही निर्मित है और उसका वर्णन संक्षेप में पहले ही हो चुका है। भाषा का आदर्श क्या होना चाहिए यह उन्होंने अपनी पुस्तक "हिन्दी भाषा"३ में स्पष्ट किया है। भारतेन्दुजी ने "भाषाओं के तीन विभाग"४ माने

---

१. भारत दुर्दशा, भारतेन्दु नाटकावली, पृष्ठ ५६३

२. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, भारतेन्दु नाटकावली, पृष्ठ ३६३

३. हिन्दी भाषा—भारतभूषण भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र लिखित। म० कु० बाबू रामदीनसिंह द्वारा प्रकाशित। खड्गविलास प्रेस, बाकीपुर सन् १८६०

४. हिन्दी भाषा, पृष्ठ १

है। "घर मे बोलने की भाषा, कविता की भाषा और लिखने की भाषा"। घर मे बोलने की भाषा को उन्होने कोई विशेष महत्व नहीं दिया। कविता की भाषा के सम्बन्ध मे वे लिखते है :

"पश्चिमोत्तर देश के कविता की भाषा व्रजभाषा है यह निर्णीत हो चुकी है और प्राचीन काल से लोग इसी भाषा में कविता करते आते है, परतु यह कह सकते है कि यह नियम अकबर के समय के पूर्व नहीं था क्योंकि, मुहम्मद मलिक जायसी और चन्द की कविता विलक्षण ही है और वैसे ही तुलसीदास जी ने भी व्रजभाषा का नियम भग कर दिया। जो हो मैंने आप कई वेर परिश्रम किया कि खडी बोली में कुछ कविता बनाऊ पर वह चित्तानुसार नहीं बनी इससे यह निश्चय होता है कि व्रजभाषा ही में कविता करना उत्तम होता है और इसी से सब कविता व्रजभाषा मे ही उत्तम होती है।"[1]

भारतेन्दु ने बुन्देलखण्ड की बोली, नागभाषा, पजाबी भाषा, नई पजाबी, माडवारी, उर्दू मिली प्राचीन कविता, तुलसीदास जी की कविता, बैसवारे की कविता, बंगभाषा की कविता, और मैथिली की कविता के उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि कविता के लिए सबसे उपयुक्त भाषा व्रज-भाषा ही है। वे नई भाषा की कविता का उदाहरण देते हुए लिखते है :

"भजन करो श्रीकृष्ण का मिल करके सब लोग।
सिद्ध होयगा काम औ छुटेगा सब सोग॥

अब देखिये यह कैसी भोंडी कविता है मैंने इसका कारण सोचा

---

१. हिन्दी भाषा, पृष्ठ २

कि खड़ी बोली में कविता मीठी क्यों नहीं बनती तो मुझको सबसे बड़ा यह कारण जान पड़ा कि इसमें क्रिया इत्यादि में प्रायः दीर्घ मात्रा होती है इससे कविता अच्छी नहीं बनती। आप लोगों को ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा कि कविता की भाषा निःसंदेह व्रजभाषा ही है और दूसरी भाषाओं की कविता इतना चित्त को नहीं पकड़ती२।"

इस प्रकार भारतेन्दु ने कविता की भाषा व्रजभाषा ही मानी है। अब गद्य की भाषा पर विचार करना उचित है। गद्य की भाषा "हिन्दी लिखने की भाषा" का नाम दिया गया है, इस प्रकार स्पष्ट करते हैं:

"भाषा का तीसरा अंग लिखने की भाषा है और इसमें बड़ा झगड़ा है कोई कहते हैं कि उर्दू शब्द मिलने चाहिए कोई कहता है संस्कृत शब्द होने चाहिए और अपनी अपनी रुचि के अनुसार सब लिखते हैं और इसके हेतु कोई भाषा कभी निश्चित नहीं हो सकती। हम सब भाषाओं का नीचे उदाहरण लिखते हैं३।"

भारतेन्दु ने उदाहरण देने के लिए निम्न प्रकार की भाषाएं चुनी हैं:

१—जिसमें संस्कृत के बहुत शब्द हैं।

२—जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं।

३—जो शुद्ध हिन्दी हैं।

४—जिसमें किसी भाषा के शब्द मिलने का नेम नहीं है।

५—जिसमें फ़ारसी शब्द विशेष हैं।

---

२. वही पृष्ठ ११

३. वही पृष्ठ १२

६—जिसमे अंगरेजी शब्द हिन्दी होकर मिल गये है।

७—जिसमे पुरबियों की बोली व काशी की देश भाषा है।

८—जो काशी के अर्ध शिक्षित बोलते हैं।

९—दक्षिण लोगो की हिन्दी।

१०—बंगालियो की हिन्दी।

११—अंगरेजो की हिन्दी।

१२—रेलवे की हिन्दी।

इन भाषाओं के उदाहरण देकर भारतेन्दु लिखते है।

"हम इस स्थान पर वाद नहीं किया चाहते कि कौन भाषा उत्तम है और वही लिखनी चाहिये पर हाँ मुझसे कोई अनुमति पूछे तो मै यह कहूंगा कि नंबर २ और नं० ३ लिखने योग्य है।[१]

भारतेन्दु जी द्वारा दिए हुए न० २ और न० ३ के उदाहरण इस प्रकार है:

न० २—जिसमे सस्कृत के शब्द थोडे है।

सब विदेशी लोग घर फिर आए, और व्यापारियो ने नौका लादना छोड़ दिया, पुल टूट गए, बाध खुल गए, पंक से पृथ्वी भर गई, पहाडी नदियो ने अपने बल दिखाए, बहुत वृक्ष समेत कूल तोड गिराए, सर्प बिलो से बाहर निकले, महानदियों ने मर्यादा भंग कर दी और स्वतन्त्रता स्त्रियों की भाति उमड चली।

नं० ३—जो शुद्ध हिन्दी है।

पर मेरे प्रीतम अब तक घर न आए क्या उस देश मे बरसात

१. हिन्दी भाषा, पृष्ठ १५

नहीं होती या किसी सौत के फन्द में पड गए कि इधर की सुध ही भूल गए। कहां तो वह प्यार की बातें कहां एक संग ऐसा भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना। हा, मैं कहां जाऊं, कैसे करूं, मेरी तो ऐसी कोई मुंह बोली सहेली भी नहीं कि उससे दुखड़ा रो सुनाऊं, कुछ इधर उधर की बातों ही से जी बहलाऊं।२

भारतेन्दु ने अधिकतर गद्य में नं० ३ वाली भाषा का ही रूप प्रयोग किया है। 'चन्द्रावली नाटिका' में इस प्रकार के उदाहरण भरे पड़े हैं। भाषा का यही रूप इंशा ने 'ठेठ हिन्दी' कहा है जिसमें किसी बोली का 'पुट' नहीं है। "बाहर की बोली और गवारू कुछ उसके बीच में न हो; भले लोग अच्छों से अच्छा जैसा बोलते हैं डाल वही रहे छाँह किसी की न हो।"

इस प्रकार भारतेन्दु ने हिन्दी भाषा का यह रूप निर्धारित किया। इसी भाषा में उन्होंने शैलियों की विभिन्नता से लगभग १७५ पुस्तकों की रचना की।

परिशिष्ट

भारतेन्दु जी ने गद्य का उदाहरण देने के लिए जितने प्रकार की भाषाएं चुनी हैं उनमें से उनके आदर्शों के अनुसार दो प्रकार की भाषा-शैलियों के उदाहरण (नं० २ और नं० ३) लिखे जा चुके हैं। शेष नमूने उन्होंने इस प्रकार दिये हैं :

नं० १ जिसमें संस्कृत के बहुत शब्द हैं।

---

२. वही पृष्ठ १२

अहा, यह कैसी अपूर्व और विचित्र वर्षा ऋतु साम्प्रत प्राप्त हुई है अनवरत आकाश मेघाच्छन्न रहता है और चतुर्दिक कुज्झटिका पात से नेत्र की गति स्तम्भित हो गई है प्रतिक्षण अभ्र मे चंचला पुंश्चली स्त्री की भांति नर्तन करती है और वैसे ही बकावली उड्डीयमान होकर इतस्ततः भ्रमण कर रही है मयूरादि अनेक पक्षिगण प्रफुल्लित चित्त से रव कर रहे हैं और वैसे ही दर्दुरगण भी पंकाभिषेक करके कुकवियो के भाँति कर्णवेधक ढक्काझकार सा भयानक शब्द करते है।

नं० ४ जिसमें किसी भाषा के शब्द मिलने का नेम नहीं है।

ऐसी तो अंधेरी रात उसमे अकेली रहना कोई हाल पूछने वाला भी पास नहीं रह-रहकर जी घबड़ाता है कोई खबर लेने भी नहीं आता और न कोई इस विपत्ति में सहाय होकर जान बचाता।

नं० ५ जिसमें फ़ारसी शब्द विशेष हैं।

ख़ुदा इस आफ़त से जी बचाय प्यारे का मुंह जल्द दिखाए कि जान में जान आए। फिर वही ऐश की घड़ियाँ शबोरोज़ दिलवर की सुहबत रहे रंजोग़म दूर हो दिल मसरूर हो।

नं० ६ जिसमें अंग्रेजी शब्द हिन्दी हो के मिल गए हैं।

कलकत्ते की शोभा

वहाँ हौसों में हज़ारों बक्स माल रक्खे हैं कंपनियो के सैकड़ों बैग इधर से उधर कुली लोग लिये फिरते हैं लालटैन में गिलास चारों तर्फ़ बल रहे है सड़क की लैन सीधी और चौड़ी है पालकी गाड़ी बग्घी चिरिट फिटन दौड़ रही है रेलवे के स्टेशनों पर टिकट बंट रहा है कोई फर्स्ट क्लास में बैठता है कोई सेकेंड मे कोई थर्ड मे बैठता है ट्रैन को इञ्जिन इधर से

उधर खींच कर ले जाती है बडे से छोटे तक उहदेदार जज मजिस्ट्रेट कलक्टर पोस्टमास्टर डिप्टी साहब स्टेशनमास्टर करनैल जरनैल कमानियर किरानी और कानिस्टबल वगैरह चारों ओर घूम रहे है कोई कोट पहिने है कोई बूट पहिने है कोई पाकेट में लोट भरे हैं लाट साहिब भी इधर उधर आते जाते है डॉक दौडती है बोट तिरते हैं पादरी लोग गिरजों में किस्तानों को बैबिल सुनाते है पप से पानी दौडता है कल में लप रौशन हो रही है।

नं० ७ जिलके पुरबियों की बोली या काशी की देश भाषा है।

ऊ साहेब आप कब्बौ कलकत्ता गये हौ की नाहीं ? जो न गये हो तो एक बेर हमरे कहे से आप ऊ शहर के जरूर देखो देखही के लायक है। आप से हम ओ की तारीफ़ का करी अपने आँखों से देखे बिना ओ का मजे नहीं मिलता आप तो बहुत परदेश जाथौ एक बेर ओहरो झुक पडो।

नं० ८ जो काशी के अर्द्ध शिक्षित बोलते हैं।

महाराज मैं सच कहता हो कलकत्ता देखने ही के योग्य है आप देखियेगा तो खुश हो जाइयेगा हम एक दफे गए रहे तो ऐसा जी प्रसन्न हो गया कि क्या पूंछना है।

नं० ९ दक्षिण के लोगों की हिन्दी।

सो तो ठीक ही है कलकत्ते तो आप कं एक बेर अवश्य जाना हमारे कूं तो ऐसा जान पडता है कि जवत पृथ्वीतल मे दूसरा ऐसा कोई नगर ही नहीं है।

नं० १० बंगालियों की हिन्दी।

सच है इधर राधा बाजार का बडा बडा दोकान है उधर मछुआ बाजार मे बहुत अच्छा अच्छा समान है कही गाड़ी खडा है कही केली फला है कही गोरा की समाज की समाज आती है कही अमारा देश का बगाली बाबू लोगो का पलटन जाती है कोम्पानी लोग दीवालिया होया जाता है कही मारवाडी माल लेकर घर पराता है।

नं० ११ अङ्गरेजों की हिन्दी।

बेशक इसमे कुछ शक नही कैलकटा देखने की जगह है हम वहा अकसर रहता आप एक देर जाने मागो वहॉ जाकर थोडा सबुर करो देखो बहुत लोग जाता तो आप घर मे पडा पड़ा क्यो सडता जाओ जाओ हमारा कहने से जाओ।

नं० १२ रेलवे की भाषा

इष्ट इन्डियन रेलवे

इस्तहार।

बाशिन्दा मौजे दोमिगा जिला दुमका कौम डोम मोसम्मी मोहन तारी पेसर भैरव तारी उमर ४५ बरस करीब इष्टेशन साहबगज ट्रेन को रेल से गिरा देने के मतलब से रेल रास्ता का २२३ मील के ऊपर कोई अटकाब रखा था इस जुर्म के सबब गुजस्ता बतारीख १३ जून को साहब शेशीयन जज बहादुर भागलपुर ने उसको दस बरस सख्त कैद की सजा का हुकुम फरमाया।

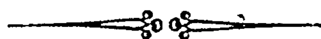
ऊपर के लिखे हुए तारीख मे बाशिन्दा मौजे दोमिगा जिला दुमका कौम सॉवताल मोसम्मी बोयला पेसर पीरनी उमर ३० बरस मोहन तारी का साथी होकर रेल रास्ता का उसी मक़ाम पर एक ही वक्त मे उसी तरह का अटकाब रखने के जुरम मे सख्त कैद मिहनत से सात बरस

कैद की सजा का हुक्म हुआ।

ट्राफिक मनेजार का आफिस
जमालपुर १२ जुलाई १८८४ ई०

एन० एस० एल० कार्टर
ट्राफिक मनेजार।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का आचार्यत्व



नवम्बर सन् १९०२ मे 'कुमारसभव' के प्रथम पांच सर्गो का अनुवाद कर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी पाठको का ध्यान इस लिए आकर्षित किया था कि खडी बोली हिंदी मे भी कविता की जा सकती है और उसमे संस्कृत भाव-व्यंजना की उपयुक्त क्षमता भी उत्पन्न की जा सकती है। यद्यपि द्विवेदीजी की कविता "वही सुघरता सफल समझिये जो प्रियतम को सके लुभाय" [पंचम सर्ग] के शब्द-विन्यास से ऊपर नही उठ सकी और खड़ी बोली का सौष्ठव स्पष्ट नहीं हो सका, तथापि उनके प्रयास मे खड़ी बोली कविता अपने निर्माण पथ पर अग्रसर हो गई और इस प्रकार काव्य-क्षेत्र में परिवर्तन का सूत्रपात हुआ। जिस प्रकार भारतेंदु हरिश्चद्र ने समकालीन खड़ी बोली गद्य को सशक्त बनाकर उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की थी उसी प्रकार पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ी बोली की परुष कही जाने वाली शब्दा-वली मे कविता की पंक्तिया लिखकर उसमे संगीत की शक्ति प्रेरित की। गद्य और पद्य मे नवीन उन्मेष उत्पन्न करने वाले भारतेंदु और महावीरप्रसाद हिंदी साहित्य के दो कर्मयोगी थे जिन्होने परिश्रम और अध्यवसाय से खड़ी बोली साहित्य को शक्ति-सम्पन्न बनाया। खड़ी बोली कविता में उन्मेष द्विवेदी जी के कार्य-काल से ही प्रारम्भ होता

है। इसी उद्योग में हिंदी के राष्ट्रीय कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त की कविता की रूप-रेखा निर्मित हुई।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का सम्पादन-कार्य उन्हें गद्य के निकटतम सम्पर्क में ला सकने में समर्थ हुआ। भारतेंदु के व्यवस्थित किये हुये गद्य में ऐसे कितने ही अभाव थे जो गम्भीर साहित्य के प्रणयन में अवरोधक थे। कहानी और नाटक का गद्य भारतेन्दुजी निर्मित कर सके, वैज्ञानिक निबन्ध और सम्पत्ति-शास्त्र का गद्य उनके पास नहीं था। उनके गद्य में हृदय है, मस्तिष्क नहीं। इसकी पूर्ति करने के लिए एक वैयाकरण की आवश्यकता थी। और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी संस्कृत व्याकरण का ज्ञान लेकर 'सरस्वती' का सम्पादन करने से सम्बद्ध हुए तो गद्य का रूपान्तर ही हो गया और उसे वह दृढ़ता प्राप्त हुई जो साहित्य के गम्भीर विचारों का भार सहन करने में समर्थ हुई। भाषा को परिमार्जित और शुद्ध करने के सकल्प में 'सरस्वती'-सम्पादक की जो साधना छिपी हुई है उसका मूल्य नहीं आंका जा सकता। गद्य में शब्दों का उपयुक्त चयन भाव-व्यजना में अधिक सहायक होता है और उसे एक विशेष नाद से समन्वित करता है। सस्कृत साहित्य शास्त्र के विचारों का आधार लेते हुए प० गणेश सदाशिव लेले ने मराठी में साहित्य शास्त्र सम्बन्धी एक ग्रन्थ लिखा। उसके एक अंश को "शब्दार्थ विचार" शीर्षक से प्रश्नोत्तर के रूप में लिख कर सन् १९०६ में प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी गद्य के शब्दार्थों की ओर पाठकों और लेखकों का ध्यान आकर्षित किया। प्रारम्भ में उन्होंने जो लेख लिखे उनमें लेखकों, सम्पादकों और पुस्तक-प्रकाशकों के

उत्तरदायित्व की भावना ही भरी हुई थी। सन् १९०४ से १९१० तक उनके अधिकांश लेख भाषा के परिमार्जन की ओर ही ध्यान आकर्षित करने के लिये लिखे गए थे। गणेशदत्त और देवदत्त के वार्तालाप मे अथवा प्रश्नोत्तर के रूप मे शब्द और अर्थ को विकृत करने वाले लेखको का उन्होने यथेष्ट तिरस्कार किया था और शिष्ट भाषा मे दुर्वचन तक कहे थे। इसी से ज्ञात होता है कि द्विवेदीजी भाषा का परिष्कार करने मे कितने उग्र थ। भाषा के प्रति किसी प्रकार की भी उपेक्षा सहन करने मे वे एकान्त असमर्थ थे। उनका यह कठोर अनुशासन ही भाषा का शुद्ध रूप निर्धारित करने में समर्थ हो सका। यही उनके सम्पादन का सब से बडा कार्य था जिसमे वे जितने सयमी थे, उतनेही निष्ठुर।

भाषा को साहित्य के उपयुक्त बनाने मे--केवल शब्दो की रुचि परिष्कृत करना ही यथेष्ट नहीं है, उसे भावो से सम्पन्न करने का यत्न भी होना चाहिए। अगरेजी, मराठी, गुजराती और बंगाली साहित्य के विविध भावो को हिन्दो मे रूपान्तरित करने को चेष्टा द्विवेदीजी की ओर से जितनी अधिक हुई उतनी हिन्दी के किसी सम्पादक से नहीं हो सकी। भाव-जगत् की विस्तृत परिधि से परिचय कराने के प्रयास मे द्विवेदीजी ने भिन्न साहित्य-विषयक अनेक लेख हिन्दी-भाषा-भाषियो को दिए। उन्होने जो लेख लिखे उनमे से बहुतो मे "हिन्दी के सिवा कई अन्य भाषाओ के साहित्य सम्बन्धी विचारो की भी पुट है।" इसीलिए द्विवेदीजी के लेखो का विस्तार मुक्त रूप से अनेक विषयो मे है। साहित्य का साधारण ज्ञान जिस-जिस स्थान से—जिस-जिस भाषा से—उन्हें मिला उन्होने हिन्दी-जगत् के सामने बडे मनोरजक ढंग से रक्खा। हिन्दी लेखकों को वे केवल भाषा-विषयक शुद्ध ज्ञान से ही परिचित नहीं कराना

चाहते थे, वे उन्हें अपने अधिकारों से भी अवगत करा देना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने सन् १९१३ में 'नया कापी राइट एक्ट' नामक लेख लिखा जिसके प्रारम्भ में उन्होंने अपने इसी भाव को संकेत किया है— "इस कानून का घनिष्ट सम्बन्ध पुस्तकों के लेखकों और प्रकाशकों से है और उसका जानना उनके लिए बहुत आवश्यक भी है। अतएव उसका सारांश लिखना हम यहाँ पर उचित समझते हैं।" इस प्रकार पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-जगत् के ज्ञान का परिवर्धन और परिष्करण करते हुए जिस उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्तित्व का परिचय दिया उससे वे साहित्य के इतिहास में निस्सन्देह आचार्य माने जायगे।

प्रसादजी का 'आँसू'

'आँसू' हिन्दी साहित्य की एक अमरकृति है। कविवर प्रसाद का सब से अच्छा काव्य 'कामायिनी' है जिसमें उन्होंने जीवन की गहराई में पहुंचकर सुख:दुख की अलग-अलग सीमाएं पहचानी हैं किन्तु उनके गीतिकाव्य 'आँसू' में दुःख की एक ऐसी रेखा है जो अपनी अभिव्यक्ति से जी हलका करते हुए सुख के द्वार तक जा पहुचती है। 'कामायनी' में सुख और दु:ख इन्द्र धनुष के रंगो की तरह अलग-अलग हैं! 'आँसू' में प्रारंभ का दारुण दुःख और अन्त का अभिव्यक्ति जनित सुख सध्या के श्याम बादलों की अरुण कोरों की तरह मिला हुआ है। साथ ही सन्ध्या का धुंधलापन भी उसमें विषाद का रूप लेकर घिर उठा है। यदि 'कामायनी' में एक तपस्वी की साधना है तो 'आँसू' में एक विरही की आत्म-कथा है जो सर्वजनीनता के दृष्टिकोण से प्रत्येक मानव के हृदय

से गूजकर निकल सकती है और इसलिए प्रसाद के ग्रन्थो मे वह सब से अधिक लोकप्रिय भी है।

'आँसू' एक विरह-काव्य है जैसे कवि रामगिरि के यक्ष का हृदय लेकर महाकवि कालिदास के स्वरो मे अपनी विरह-वेदना किसी 'छलना' के पास भेज रहा है। इस वेदना के मनोवैज्ञानिक आधार के सबध में हिन्दी आलोचको के अलग-अलग मत है। कोई यह आधार भौतिक जगत् के नारी-सौन्दर्य को मानते है और कोई इसे दिव्य और अलौकिक सत्ता से जोडते है। मेरी समझ मे 'आँसू' का आलम्बन इन दोनो आधारो से भिन्न है। यदि सारी कविता को ध्यान से पढा जाय तो इस काव्य मे कसकती हुई वेदना का आधार सत्य की सूक्ष्म भावना है जिसके सहारे यह विश्व अपने रूप मे स्थिर है तथा जिसके अभाव में वह छल, प्रवचना आडम्बर तथा पाखड से कलुषित हो जाता है। 'आँसू' की निम्नलिखित पक्तियाँ देखिए :

मुख शशि पर घूंघट डाले
अंचल में दीप छिपाए
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आए

'जीवन की गोधूली मे' जो आया क्या वह अपने 'मुख-शशि पर घूघट' डाल कर आया? और क्या वह अपने 'अंचल मे दीप छिपाए' हुए था? उस पुरुष को आप क्या कहेगे जो अपने वस्त्र-विन्यास मे घूघट और अंचल को स्थान देता है? हमारे परीक्षार्थियो के सामने परीक्षा की 'गोधूली' मे ये पंक्तियाँ भी 'कौतूहल सी आई'। इन

पंक्तियों में आने वाला पुरुष है या स्त्री या दोनों ? मेरी दृष्टि में वह दोनों रूपों में है यदि हम उसे 'सत्य' मान लें। इस संसार में 'सत्य' अनेक रूपोंमें आता है, कभी वह कोमल रूप धारण करता है, कभी परुष, कभी सत्य का कौतूहल पुरुष में प्रकट होता है कभी स्त्री में, इसलिए वह दोनों में ही है और दोनों रूपों में आता है। जीवन की समाप्ति होते-होते 'जीवन की गोधूली' में 'सत्य' का कौतूहल विचित्र रूप से आँखों के सामने आ जाया करता है।

जीवन के प्रारम्भिक काल में कवि ने जगत् को सुख और संतोष से परिपूर्ण समझा था। हमारे कवि प्रसाद भविष्यद्रष्टा थे। उनकी प्रेरणा से हिन्दी में मित्रवर 'अंचल' जी तो हैं, भविष्य में कोई सज्जन 'घूंघट' जी भी हो जायंगे; किन्तु ज्यों-ज्यों कवि की चेतना विकसित होती जाती है वह देखता है कि आडम्बरपूर्ण मानव-व्यवहारों के कारण संसार यंत्रणाओं का आगार है। वास्तविक संसार में सत्य की भावना की अव-हेलना देख कर कवि का अंतःकरण चीत्कार कर उठता है और उसकी वेदना शत-शत धाराओं में फूट निकलती है। उसकी निराशा का मर्मस्पर्शी चित्र 'बुलबुले सिन्धु के फूटे' में व्यक्त हो जाता है।

'आँसू' के विरह की सब से बड़ी विशेषता उसका कल्याण-विधायक रूप है। 'आँसू' हमें निराशाभरी वेदना से व्याकुल करके अकर्मण्य नहीं बनाता वह जीवन में रूप को निखारने का संदेश देता है। कवि वेदना को मानव-जीवन के विकास में प्रकाशमंदिर का सोपान समझता है। वेदना की अन्तर्ज्वाला जीवन को प्रकाश देती है। कविवर पंत के अनुभव की भाँति 'सुख-दुख की आँखमिचौनी, जीवन खोले अपना मुख' की भाँति प्रसादजी की भी जीवन-वेदी पर सुख-दुख दोनों समर्पित होते हैं।

इस विषय मे एक बात ध्यान देने की है कि कवि जीवन के लहराते हुए सागर मे स्थिरता सुख के दिनो की विस्मृति के सहारे प्राप्त करता है, न कि आत्मज्ञान के बल पर। 'चेतना लहर न उठेगी, जीवन समुद्र थिर होगा।' प्रसाद जी दुःखो की औषधि प्रायः विस्मृति मे पाते है। 'कामायनी' का नायक विक्षुब्ध मनु भी कह उठता है :

विस्मृति आ अवसाद घेर ले

यह विस्मृति सिर्फ बेहोशी है, आत्मा की मस्ती को उभारने वाला आनन्द नहीं।

फिर भी 'आँसू' एक उच्च कोटि का गीतिकाव्य है। इसमे भावना की एकरूपता, अनुभूति की तीव्रता तथा मधुर सगीत आदि—गीतकाव्य के अनेक गुण—पाये जाते है। इसके भाव तथा कला दोनो ही पक्ष सम्हले हुए है। कहीं-कही कल्पना की उडान और भावो के उभार मे कवि ने शब्दो के व्याकरणसम्मत रूप पर ध्यान नही दिया है जिससे वाक्य-रचना मे कुछ शिथिलता तथा अर्थ मे उलझन आ गई है। 'छिल छिल कर छाले फोडे' वाला पद्य इस दोष का उदाहरण है किन्तु महाकवियो ने कब व्याकरण की चिन्ता की है? वे व्याकरण के पीछे नही चलते, व्याकरण उनके पीछे चलता है।

आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य में 'आँसू' एक अमर कृति है।

उपन्यास और समाज-सुधार



साहित्य मे उपन्यास ही एक ऐसा अग है जिसने समाज से अपना सम्बन्ध बहुत गहरे रूप मे रक्खा है। उसका कारण यह है कि उपन्यास मे जीवन का रूप बहुत सी ऐसी मनोरजक घटनाओ से बनता है जो सरलता से मन को अपनी ओर खीच लेती है और हम बिना किसी अड़चन के जीवन की भाँति-भाँति की गतियो से परिचित हो जाते है यही कारण है कि कहानी और उपन्यास सामाजिक सहित्य मे अपना खास स्थान रखते है। और उनके द्वारा हम किसी भी समाज का चित्र बडी सरलता से पा सकते है। उपन्यास मे जिन घटनाओ और चरित्रो की रूप-रेखा खीची जाती है, उन्ही घटनाओ और चरित्रो से हम समाज के आहार-व्यवहार, रीति-रस्म और रहन-सहन का पूरा पता पा लेते हैं। उदाहरण के लिए हम समाज का अधिक से अधिक बोलता हुआ चित्र रूसी उपन्यासो मे पा सकते है। चेखाव, मैक्सिम गोर्की, डोस्टोएवस्की, तुर्गनेव, टालस्टाय आदि ऐसे कहानीकार और उपन्यासकार हुए है जिन्होने पद-पद पर समाज की परिस्थितियो के चित्र खीचे हैं,और हमे बुराइयो और अत्याचारो की जलती हुई ज्वाला से खीचकर शाति के सरोवर तक पहुचाया है। इसलिए कि हमारा समाज पश्चिम के समाजो से भिन्न है, हमे अपने समाज के चित्र के लिए, इस देश की भाषा मे लिखे गये उपन्यासो पर ही विचार करना चाहिए। इस विचार को सामने रखते हुए हम इस समय बगाली, गुजराती और हिन्दी उपन्यासो

पर ही अपनी नज़र डालेंगे।

हमारे सामने सबसे बडा सवाल यह है कि क्या हम उपन्यासों को ऐसा रूप दें कि वे हमारे साहित्य के रूप को छोडकर एक ऐसी जिम्मेदारी उठा लें कि समाज के हर एक वर्ग की आलोचना करते हुए हम उसे कभी तो स्वर्ग का हिस्सा मान लें और कभी उसमे नरक की दुर्गन्धि समझकर उसका तिरस्कार करें ? क्या उपन्यास मनु की स्मृति बन जाय अथवा समाज के बाग का हर एक फूल और कली उसकी उगली के सकेत से खिले या मुरझाकर गिर जाय ? आपने यह भी देखा होगा कि कली की पखुडियो को अगर आप उगलियो से खोलने की कोशिश करेंगे तो उनमे न तो वह खिला हुआ रूप मिलेगा और न उनमे से सुगधि ही फूट सकेगी। स्वाभाविक रूप से जब कली फूल मे विकसित होगी तभी उसमे ताजगी और खूबसूरती आ सकेगी। क्या उपन्यास कली को जबरदस्ती खिलाने की उगली बन जाय ? हमने अपने साहित्य से 'उग्र' के उपन्यासो को पढा है और उन्होंने समाज के दुराचारो को मिटाने के लिए अपनी उगली को भाले की नोक की तरह पैनी बनाया है। उससे कली खिलने की बजाय अपनी पखुडिया भी खो बैठी है और हमारे हाथ समाज की बुराइयो का सूखा डंठल ही रह गया है। सुगधि के बदले उसमे से हमे कच्ची दुर्गधि मिली है और हम एक बार ही कह उठे हैं—ऐसे उपन्यासो की हमें जरूरत नहीं है जिनसे समाज बन। के बजाय और भी बिगड जाय।

२

लेकिन इस सवाल को हम यों ही नहीं छोड़ देना चाहते। हम इसके

अंदर तक पहुचना चाहते है। हम उपन्यास को ऐसा रूप तो देना चाहते है कि उसके समाप्त होते होते हमारे सामने जिन्दगी का ऐसा पृष्ठ खुल जाय कि एकबारगी चौंककर कह सकें कि हमारे समाज मे ऐसी बातें नहीं होनी चाहियें, लेकिन हमें यह न मालूम होना चाहिए कि यह बातें स्कूलमास्टर ने हमें क्लास मे 'ब्लैकबोर्ड' पर लिखकर समझाई हैं और हमे उसे दूसरे रोज अपनी नोटबुक मे साफ साफ लिखकर मास्टर साहब को दिखलाना है। समाज के सुधार और विकास की भावना ऐसी स्वाभाविक होनी चाहिए जैसे किसी भारी चीज के गिरने से हमारी पलक आप से आप झपक जाती है। हम कोशिश नहीं करते कि इस भारी चीज के गिरने से हमे अपनी आँखें बंद करनी चाहिए, यद्यपि हम जानते है कि चीज के गिरने की आवाज से हमारी आँखो को चोट नहीं पहुच सकती। यह तभी सम्भव हो सकता है जब हम आदर्श और यथार्थ का ऐसा मिलाप दिखलावें कि दोनो मे से कोई भी अपने प्रभाव मे कम न होने पावे। दाहिने और बाएं हाथ की तरह आदर्श और यथार्थ किसी चीज को उठाने की कोशिश करें और अपनी इच्छानुसार घटनाओ को सुलझाने के लिए एक हाथ से दूसरे हाथ की अपेक्षा कम या अधिक जोर लगावें। दोनो का मेल कहानी या उपन्यास-लेखक की चुनी हुई घटनाओ के उठने या गिरने पर छोड़ देना चाहिए और उसे अपने उपन्यास के अन्त को ऐसा रूप देना चाहिए कि हममे यह समझने की इच्छा स्वय होने लगे कि यह परिणाम ठीक है और यह परिणाम ठीक नहीं है। समाज की कठिनाइयो को हल करने के लिए उपन्यास-लेखको ने वैसी ही कठिनाइयो की कल्पना कर अपने

उपन्यासों से घटनाओं का रूप सजाया है। उदाहरणों के लिए हम मुख्यत: अपने देश की तीन भाषाओं के तीन प्रमुख उपन्यास-लेखकों को लेते है—बंगाली भाषा के विश्वकवि और उपन्यास-कार श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, गुजराती भाषा के उपन्यास-लेखक श्री कन्हैयालाल एम्० मुंशी और हिन्दी साहित्य के उपन्यासकार श्री प्रेमचन्द। यों तो देश की अन्य प्रमुख भाषाओं के बहुत से उपन्यासकारों की रचनाओं से समाज-सुधार के आदर्श के प्रमाण दिए जा सकते है लेकिन हम इस थोडे से समाज मे इन्ही तीन प्रमुख लेखकों की रचनाओं पर नजर डालेंगे।

२

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने समाज-सुधार की ओर अपने उपन्यासों की शक्ति खडी की है। मैंने अंग्रेजी मे उनका उपन्यास पढ़ा है, 'ब्रोकन टाइज़'।

इस उपन्यास मे उन्होंने समाज के तीन चित्र प्रस्तुत किए है। एक चित्र जगमोहन के सामाजिक और नैतिक आदर्श से बना हुआ है जिसमे ईश्वर पर कोई विश्वास नही है। चमार के साथ भाई-भाई सा वर्ताव करना आवश्यक है और गर्भवती कुमारी कन्या नीनी को ज़ाति-पाँति का भेद न रखकर अपने घर मे आश्रय देने का आदर्श है। दूसरा चित्र लीलाचन्द स्वामी का है जिन्होंने समस्त ससार को माया के रूप मे समझ लिया है। इन दोनो चित्रों से परे विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ने समाज के सामनें एक तीसरा चित्र इस प्रकार रक्खा है जो अधिक व्यावहारिक है, जिसमे गृहस्थाश्रम का पालन करने के लिए श्रीविलासदामिनी से विवाह करता है और एक सात्विक और लौकिक जीवन व्यतीत करता है।

उपन्यास के बीच-बीच मे श्री रवीन्द्रनाथ ने समाज पर बडी गहरी चोट की है। आपके मनोरजन के लिए मैं उनके कुछ अवतरण हिन्दी मे अनुवाद कर सुनाता हूँ :

'दामिनी ने सतीश से कहा—सच कहो, दुनिया की भलाई की वह कौन सी बात है जिसके लिए तुम्हारा सम्प्रदाय रात-दिन व्यस्त रहता है ? तुमने किसकी रक्षा की है ..यह आवेश, आवेश, आवेश जिसका राग तुम गा रहे हो उसे क्या तुमने असली रूप मे नहीं देखा ? उसमे न धर्म है, न कर्तव्य। उसके सामने न स्त्री है, न भाई और न घर की पवित्रता, उसमे न दया है, न विश्वास, न नम्रता है न लज्जा। इस क्रूर, बेशर्म और आत्मा का नाश कर देने वाले आवेश के नर्क से मनुष्यो को बचाने के लिए तुमने कौनसा रास्ता खोज रखा है। मैने तुम्हारे गुरुओ से कुछ नही सीखा। उन्होने मुझे एक क्षण की भी शान्ति नहीं दी। आग आग को नही बुझा सकती। जिस रास्ते से वह अपने भक्तो को ले जा रहा है उसमे न उत्साह मिलता है, न सयम और न शान्ति। वह ग़रीब स्त्री जो मर गई है, उसके हृदय का खून इसी क्रोध और आवेश ने किया है जिसने उसे मार डाला। ईश्वर के लिए, मेरे स्वामी, मै प्रार्थना करती हूँ मुझे इस आवेश पर बलिदान न कर दो। आह, मुझे बचाओ ! यदि कोई भी मुझे बचा सकता है तो वह तुम हो !'

इसी उपन्यास मे एक बडी सुन्दर बात श्री रवीन्द्रनाथ ने लिखी है। आजकल की लडकियाँ जब विवाहिता होकर ससुराल जाती है तो वे अपने हाथ से घर का काम काज करने मे अपना अपमान समझती हैं। वे इसे शायद फैशन के खिलाफ़ समझती है। घर मे चार नौकर होना

आवश्यकता इस बात की है कि हमारा बुद्धिवाद सृष्टि के कण कण मे व्याप्त स्नेह और पारस्परिक हित की भावना खोजे। वह अपनी हंसी के हाथो से जीवन का द्वार खोलना सीखे। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य मनुष्यत्व को भूल कर देवता होने की चेष्टा मे राक्षस बनने जा रहा है। कुर्सी पर बैठकर वह चपरासी को भूल गया है, मोटर पर चढ़कर उसे राहगीरो से घृणा हो गई है, थियेटरो मे जाकर वह अधे गायक को भूल गया है। वह हसता है लेकिन अपनी हसी को नहीं समझ सकता। उसने अपनी हसी मे यह भी नहीं खोजा कि यह किसने गुद-गुदाया है! आज का मनुष्य बुद्धिवाद की कसौटी पर स्नेह के फूल को कसकर परखना चाहता है। वह अपनी इन्द्रियो से आत्मा मे चेतनता लाना चाहता है। किसी ने राख से भी कभी दीपक जलाया है?

अरब मे एक जादूगर था। वह अफ़्रीका के जलते हुए मरुस्थल की ज़मीन से कान लगाकर बगदाद के फर्श पर चलने वाले प्रत्येक बच्चे के पैरो की ध्वनि को पहचान जाता था और शैतान लडको के नाम गिनाता जाता था। वह कहता था उसमे यह ईश्वर-प्रदत्त शक्ति थी। कवियो मे भी यही शक्ति है। यदि वे भौतिकवाद की जलती हुई जमीन पर कान लगाकर हृदय की सरल और सूक्ष्म ध्वनिया सुनना चाहे, तो सुन सकते है। उन्हे जीवन की क्रूर प्रवृत्तियो से मनुष्यत्व का सदेश निकालकर घोषित करना है। उनके ऊपर एक उत्तरदायित्व है और इस बुद्धिवाद के युग मे तो यह उत्तरदायित्व और भी बढ़ गया है।

आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही 'कविता' है। जिस समय आत्मा का व्यापक

सौन्दर्य निखर उठता है उस समय कवि अपने मे सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है। उस समय क्षण-क्षण मे 'मै' और 'सब' मे विपर्यय होता है। 'मै' चिरन्तन भावनाओ मे 'सब' का रूप धारण करता है और भावना के किसी विशेष दृष्टि-विन्दु मे 'सब' 'मैं' मे आकर सकुचित हो जाता है। तब व्यक्तिगत भावनाएं विश्व की समस्त गति मे अबाध रूप से वहती है और समस्त सृष्टि का सगीत एक कण के कंपन मे स्पन्दित होने लगता है। जिस दैवी क्षण मे कवि अपने को इस असीम प्रकृति से विलीन कर देता है। उस समय सृष्टि के समस्त रहस्य उसकी वाणी से फूट निकलते है। वह अपनी भावनाओ के भीतर किसी प्रजापति को देखता है जो क्षण-क्षण मे ससार का निर्माण ओर विनाश करता है। रूप और ध्वनियाँ साकार और निराकार होती है, दृश्य और अदृश्य उसे अपने सगीत मे ओतप्रोत कर देते है। समस्त जगत हृदय मे गतिशीलता भरकर तिरोहित हो जाता है, उसी गतिशीलता का नाम 'कविता' है।

यह गतिशीलता ध्वनि और छन्द मे प्रकट होती है। प्रकृति के समस्त रहस्यो को अपनी पदावली मे केन्द्रीभूत कर कवि स्वय स्रष्टा के रूप मे हो जाता है। वह ससार को उसके वास्तविक स्वरूप का स देश देता है। ससार को आश्चर्य होता है अपने ही उस महान् सोन्दर्य पर जो उसमे इतने काल से छिपा हुआ था। अतः इस छिपे हुए सोन्दर्य को कविता मे स्पष्ट कर देना ही कवि का महान् धर्म है। कवि साधारण मनुष्य से भिन्न होता है। वह जानता है कि किस प्रकार वह अपने को प्रकृति की गतिशीलता मे लीन कर दे ओर उसके कोने-कोने से परिचित होकर उन तथ्यो को प्रकाशित करे जिनसे जीवन बना हुआ है—जिनसे

सौन्दर्य मे आनन्द की सृष्टि हुई है। सौन्दर्य मे इस आनन्द का प्रादुर्भाव करना ही कविता का परम आदर्श है।

आनन्द का प्रादुर्भाव करने के लिए कवि किस प्रकार सौन्दर्य मे प्रवेश करता है ? कवि की अनुभूति भावना के किसी केन्द्र-बिन्दु पर जाकर तीक्ष्ण बन जाती है जिससे वह रहस्य के भीतर धस सके। जब तक कवि अपनी भावना में केन्द्र-बिन्दु स्थापित नहीं करेगा, वह किसी सौन्दर्य का उद्घाटन नहीं कर सकता। एक कील को ही लीजिए। वह अपनी समस्त शक्ति अपनी नोक म इस पकार एकत्रित कर लेती है कि थोडी सी ही गति पाने पर वह किसी पदार्थ म धंस जाती है। दूसरे ओर लोहे की मोटी छड अपनी शक्ति को किसी केन्द्र-बिन्दु पर न रख सकने के कारण ही मोटी और ठठ पडी रहती है। वह ठोकने पर भी किसी चीज़ में प्रवेश नहीं पा सकती। कवि अपनी भावना का केन्द्र-बिन्दु अत्यन्त सूक्ष्म बना लेता है और सरलता से प्रकृति के सौन्दर्य में प्रवेश पा लेता है। वहाँ जाकर वह प्रकृति की सौन्दर्यशाला से वे रत्न उठा लाता है जो संसार के ऊपरी धरातल पर चलने वालो को स्वप्न मे भी प्राप्त नहीं हो सकते।

जब हम अपने दैनिक जीवन के सुख-दुख को इस सौन्दर्य मे तिरोहित कर लेते है तो हमे उस आनन्द के दर्शन होते है जिसमें कली फूल मे परिणत होती है और फूल अपना विकास फल मे करता है। हम उस विश्व-आनन्द के समीप पहुच जाते है जिसमे काले बादल से विद्युत चमक उठती है और जल नदियो के सहारे महासागर में पहुंचकर अपनी सीमा से मुक्ति पा जाता है। साधारण मनुष्य अपनी दिशा भूलकर—

पथभ्रष्ट होकर अपनेही मनोविज्ञान मे दुःख की सृष्टि करता है। यदि वह एक क्षण भर के लिए मौन हो जाय और अन्तरात्मा की पुकार सुन सके तो उसे ज्ञात होगा कि उसका सुख उसके कार्य-कलाप मे नहीं है, उसका सुख है अपने 'अह' को भूल जाने मे—अपने को असीम बनाने मे। इसीलिए तो बौद्धमत मे 'शून्यवाद' का महत्व है। धर्मकाय की अनुभूति से मनुष्य की चेतना इस प्रकार अवस्थाहीन हो जाय कि उसका किसी से और किसी का उससे कोई स्पर्श न रह जाय। वह एक मात्र 'शून्य' हो सर्वत्र सचरित हो सके। इस शून्यवाद' मे ही वास्तविक आनन्द है, उसी मे क्लेश से मुक्ति है। फिर जिस प्रकार तलवार के प्रहार से जल नहीं कट सकता उसी प्रकार ससार की कोई भी विषम परिस्थिति उसके आनन्द के प्रवाह को नहीं काट सकती। परिस्थिति यह है कि अपनी ही सीमा से घिरा हुआ व्यक्ति अपने ही 'अह' की प्रतिध्वनि पाकर भयभीत हो उठता है और वह दुःख का अनुभव करने लगता है। यदि वह अपनी परिधि तोडकर शून्य हो जाय—मुक्त आकाश हो जाय—तो उसकी ध्वनि निकल कर असीम मे गतिशील हो जाय और वह समष्टि में निर्विकार होकर सचरण करने लगे। यही भावना रहस्यवाद का प्रवेश-द्वार है।

रहस्यवाद आत्मा मे विश्वात्मा की अनुभूति है। उसमे विश्वात्मा का मौन आस्वादन है। प्रेम के आधार पर वह आत्मा और विश्वात्मा मे ऐक्य स्थापित करता है। मै 'ऐक्य' ही कहता हूँ 'एकीकरण' नहीं। एकीकरण की भावना अद्वैतवाद मे है और ऐक्य की भावना रहस्यवाद मे। अद्वैतवाद और रहस्यवाद मे कुछ भिन्नता है। अद्वैतवाद मे मिलाप

की भावना का ज्ञान भी नहीं रहता, रहस्यवाद में यह मिलाप एक उल्लास की तरंग बन कर आत्मा में जागृत रहता है। जब एक जल-बिन्दु अनन्त जल-राशि में मिलकर अपना व्यक्तित्व खो देता है तब उसे अपने अस्तित्व का ज्ञान भी नहीं रहता। यह भावना अद्वैतवाद की है। लेकिन रहस्यवाद में अस्तित्व का पूर्ण विनाश नहीं होने पाता। मिलाप की भावना करते हुए भी व्यक्तित्व की यह सूक्ष्म जागृति रहती है कि "मैं मिल रहा हूँ।" आत्मा विश्वात्मा से मिलकर भी यह कह सकती है कि "मैं अपने लाल की लाली जहाँ देखती हूँ वहीं पाती हूँ। जब मैं उस लाली को निकट से देखने जाती हूँ तो मैं भी लाल हो जाती हूँ।" यहाँ मैं और लाल में एकता होते हुए भी दोनों का अस्तित्व-ज्ञान अलग-अलग है। व्यक्तित्व का अभिज्ञान रहते हुए इस मिलाप की आनन्दानुभूति ही रहस्यवाद की अभिव्यक्ति है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'दो पक्षियों' का रूपक देकर आत्मा और ब्रह्म की अलग सत्ता निरूपित की गई है।[१]

जलालुद्दीन रूमी ने भी आग और तपे हुए लोहे के लाल गोले के रूपक से रहस्यवाद की भावना स्पष्ट की है। जब लोहे का गोला आग से लाल हो जाता है तब उसमें भी आग का गुण आ जाता है, वह किसी को भी जला सकता है किन्तु आग से लाल हो जाने पर भी वह लोहे का गोला तो रहता ही है। उसे हम आग भी कह सकते हैं और नहीं भी कह सकते हैं क्योंकि अन्ततः वह आग के अतिरिक्त लोहे का गोला भी है। अतः वह आग है भी और नहीं भी है। इसी प्रकार आत्मा ब्रह्म के गुणों से ओतप्रोत हो जाने पर ब्रह्म है भी और नहीं भी है। इसमें

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ ६ ॥
(श्वेताश्वतर उपनिषद् ४—६—७)

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
'व्यक्ति' का विनाश न होकर उसका विकास है। गुण का लोप न होकर ऐक्य है।

इस प्रकार रहस्यवाद में जीवात्मा की स्थिति एक विरोधात्मक भावना उत्पन्न करती है। जब साधक के द्वारा ब्रह्म की अनुभूति होती है तो वह ब्रह्म में लीन तो अवश्य हो जाता है लेकिन लीन होने की भावना को भी जानता है। जैसे सूर्य के प्रकाश में मोमबत्ती। यद्यपि मोमबत्ती सूर्य के प्रकाश में लीन तो हो जाती है तथापि उसका अस्तित्व भी है क्योंकि वह जलती है।१ वह सूर्य के प्रकाश में नहीं भी है और है भी। यह वाद की भावना है। साधिका आत्मा ब्रह्म की लाली में मिलकर भी होती है 'लो, मैं भी लाल हो गई।'

इस प्रकार रहस्यवाद ब्रह्म की महान् अनुभूति में भी व्यक्तित्व की भावना सुरक्षित रखता है। रहस्यवाद में यह भी निश्चित हो जाता है कि ब्रह्म की शक्ति अपरिमित होकर साधक की शक्ति से उच्चतर है। वह अन्तर्व्यापी होते हुए भी सर्वोपरि है। अन्तर्व्यापी इस रूप में कि वह संसार के कण-कण में वर्तमान है। कणों में व्याप्त इसी ब्रह्म को साधक खोज कर पहचान लेता है। और सर्वोपरि इस रूप में कि साधक के द्वारा हृदयंगम हो जाने पर भी ब्रह्म की सत्ता श्रेष्ठतर रहती है। जिस प्रकार बहुरंगी पक्षी जल में सौ बार डूब कर भी अपने पंखों का रंग नहीं खोता, उसी भाँति सर्वोपरि ब्रह्म संसार में अनेक बार प्रवेश कर

---

१. नव प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ मैं।
(मेरी 'किरण-कण' शीर्षक कविता)

भी अपनी उच्चता सुरक्षित रखता है। इसीलिए सूफीमत में हक़ को 'लाहूत' और 'नासूत' इन दो गुणों से विभूषित किया गया है। लाहूत का संबंध हक़ की आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्नता से है और नासूत का सम्बन्ध सांसारिकता से। ब्रह्म संसार में रहते हुए भी संसार से परे है। यह बात साधक में नहीं होती, अतः ब्रह्म के समक्ष वह अप्रधान है। इसीलिए साधक अपने संपूर्ण आत्मसमर्पण के साथ ब्रह्म के समीप पहुँचता है। वह अपनी गतिशीलता में ब्रह्म के समान अवश्य ज्ञात होने लगता है जिस प्रकार गति में एक बिन्दु भी रेखा बन जाता है। और आग की एक चिनगारी अपनी गतिशीलता से सूर्य का मण्डल बना लेती है। लेकिन अन्ततः वह अपने वास्तविक रूप में एक बिन्दु या चिनगारी ही है। इस रहस्यवाद की भावना में प्रेम की प्रधानता है। यह प्रेम ही आत्मा को ब्रह्म के समीप ले जाता है और आत्म-समर्पण में परिणत होता है। इस प्रेम में स्वार्थ या आत्म-तुष्टि की भावना नहीं होती, इसमें होती है एकमात्र अपनी अभिव्यक्ति। इसी अभिव्यक्ति में आत्मा-ब्रह्म में जीवित रहती है जैसे एक तारा पूर्णिमा के चन्द्र के प्रकाश में अपना आत्म-समर्पण करते हुए भी आकाश में चमकता है।

प्रेम का प्रादुर्भाव विवेक में नहीं है। उसकी उदभावना मात्र में है। इसलिए प्रेमके लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, वह तो आत्मा का अत्यन्त मधुर संगीत है जिसकी तरंग में व्यष्टि समष्टि में परिणत होती है। विवेक तो शैतान है जो साधक को भावना-पथ से दूर ले जाकर तर्क की मरुभूमि में छोड़ देता है। इसीलिए रहस्यवाद में ज्ञान और विवेक के लिए कोई स्थान नहीं है। अनुभूति के लिए पाण्डित्य की आवश्यकता नहीं है

आवश्यकता है जीवन के निकटतम स्पर्श की और यह स्पर्श प्रेम की अत्यन्त मादक और तीव्र शक्ति से सहज ही प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रेम की चरम अभिव्यक्ति दाम्पत्य प्रेम मे है। अन्य प्रकार का प्रेम किसी न किसी परिस्थिति मे अपूर्ण है, इसकी पूर्णता एकमात्र दाम्पत्य सम्बन्ध मे है। आत्मसमर्पण की भावना इसी दाम्पत्य प्रेम मे फलीभूत होती है। साधक का रोम-रोम एक-एक वाणी बनकर अपने हृदय की विह्वलता का परिचय दे सकता है। इस प्रेम के आलोक मे करुण से करुण भावनाए भी एक अनिर्वचनीय उल्लास से ओतप्रोत रहती है, इसी लिए तो मारगरेट स्मिथ ने कहा है—रहस्यवादी के लिए यह प्रेम जीवन की मदिरा है जिसमे उल्लास का नशा है, जिसने यह मदिरा पी वह सब प्रकार से कृत-कृत्य हुआ।[१]

कबीर के प्रेम मे मादकता, उल्लास और सगीतात्मकता यथेष्ट मात्रा मे है। वह जीवन के अन्तर्तम प्रदेश का स्पर्श करता है। वह हृदय की सम्पूर्ण भावनाभिव्यक्ति से सत्य के समीप पहुचता है। इस प्रेम मे संयोग और वियोग दोनो के चित्र है। लेकिन यह सयोग और वियोग शारीरिक प्रकार का रूपक होते हुए भी इससे परे है। इससे आत्म-जिज्ञासा के साथ आत्म-सुख भी है। इस प्रेम मे उत्सर्ग ही प्राप्ति है और मरण ही जीवन है। इसी विचार को लेकर तो ईशावास्योपनिषद् ने "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्" की कल्पना की है। अतः इसमे बुद्धिवाद के लिए स्थान नही है किन्तु यह इतना व्यापक है कि भाषा की भुजाओ से पकडा नही जा सकता। इसी भावना मे जीवन नये-नये

---

१. स्टडीज इन अरली मिस्टिसिज्म, पृष्ठ २५१-२५२

आवश्यकता इस बात की है कि हमारा बुद्धिवाद सृष्टि के कण कण से व्याप्त स्नेह और पारस्परिक हित की भावना खोजे। वह अपनी हंसी के हाथो से जीवन का द्वार खोलना सीखे। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य मनुष्यत्व को भूल कर देवता होने की चेष्टा मे राक्षस बनने जा रहा है। कुर्सी पर बैठकर वह चपरासी को भूल गया है, मोटर पर चढ़-कर उसे राहगीरो से घृणा हो गई है, थियेटरो मे जाकर वह अधे गायक को भूल गया है। वह हसता है लेकिन अपनी हसी को नहीं समझ सकता। उसने अपनी हसी मे यह भी नही खोजा कि यह किसने गुद-गुदाया है! आज का मनुष्य बुद्धिवाद की कसौटी पर स्नेह के फूल को कसकर परखना चाहता है। वह अपनी इन्द्रियो से आत्मा मे चेतनता लाना चाहता है। किसी ने राख से भी कभी दीपक जलाया है?

अरब मे एक जादूगर था। वह अफ़रीका के जलते हुए मरुस्थल की ज़मीन से कान लगाकर बग़दाद के फ़र्श पर चलने वाले प्रत्येक बच्चे के पैरो की ध्वनि को पहचान जाता था और शैतान लड़को के नाम गिनाता जाता था। वह कहता था उसमे यह ईश्वर-प्रदत्त शक्ति थी। कवियो मे भी यही शक्ति है। यदि वे भौतिकवाद की जलती हुई जमीन पर कान लगाकर हृदय की सरल और सूक्ष्म ध्वनिया सुनना चाहे, तो सुन सकते है। उन्हे जीवन की क्रूर प्रवृत्तियो से मनुष्यत्व का संदेश निकालकर घोषित करना है। उनके ऊपर एक उत्तरदायित्व है और इस बुद्धिवाद के युग मे तो यह उत्तरदायित्व और भी बढ़ गया है।

आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही 'कविता' है। जिस समय आत्मा का व्यापक

सौन्दर्य निखर उठता है उस समय कवि अपने मे सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है। उस समय क्षण-क्षण मे 'मै' और 'सब' मे विपर्यय होता है। 'मै' चिरन्तन भावनाओ मे 'सब' का रूप धारण करता है और भावना के किसी विशेष दृष्टि-विन्दु में 'सब' 'मै' मे आकर सकुचित हो जाता है। तब व्यक्तिगत भावनाए विश्व की समस्त गति में अबाध रूप से बहती है और समस्त सृष्टि का सगीत एक कण के कंपन मे स्पन्दित होने लगता है। जिस दैवी क्षण में कवि अपने को इस असीम प्रकृति मे विलीन कर देता है। उस समय सृष्टि के समस्त रहस्य उसकी वाणी मे फूट निकलते है।वह अपनी भावनाओ के भीतर किसी प्रजापति को देखता है जो क्षण-क्षण मे ससार का निर्माण और विनाश करता है। रूप और ध्वनियाँ साकार और निराकार होती है, दृश्य और अदृश्य उसे अपने सगीत से ओतप्रोत कर देते है। समस्त जगत हृदय में गतिशीलता भरकर तिरोहित हो जाता है, उसी गतिशीलता का नाम 'कविता' है।

यह गतिशीलता ध्वनि और छन्द मे प्रकट होती है। प्रकृति के समस्त रहस्यो को अपनी पदावली मे केन्द्रीभूत कर कवि स्वय स्रष्टा के रूप मे हो जाता है। वह ससार को उसके वास्तविक स्वरूप का स देश देता है। ससार को आश्चर्य होता है अपने ही उस महान् सौन्दर्य पर जो उसमें इतने काल से छिपा हुआ था। अतः इस छिपे हुए सौन्दर्य को कविता मे स्पष्ट कर देना ही कवि का महान् धर्म है। कवि साधारण मनुष्य से भिन्न होता है। वह जानता है कि किस प्रकार वह अपने को प्रकृति की गतिशीलता मे लीन कर दे और उसके कोने-कोने से परिचित होकर उन तथ्यो को प्रकाशित करे जिनसे जीवन बना हुआ है—जिनसे

सौन्दर्य मे आनन्द की सृष्टि हुई है। सौन्दर्य मे इस आनन्द का प्रादुर्भाव करना ही कविता का परम आदर्श है।

आनन्द का प्रादुर्भाव करने के लिए कवि किस प्रकार सौन्दर्य मे प्रवेश करता है? कवि की अनुभूति भावना के किसी केन्द्र-विन्दु पर जाकर तीक्ष्ण वन जाती है जिससे वह रहस्य के भीतर धंस सके। जब तक कवि अपनी भावना में केन्द्र-विन्दु स्थापित नहीं करेगा, वह किसी सौन्दर्य का उद्घाटन नहीं कर सकता। एक कील को ही लीजिए। वह अपनी समस्त शक्ति अपनी नोक म इस प्रकार एकत्रित कर लेती है कि थोड़ी सी ही गति पाने पर वह किसी पदार्थ म धस जाती है। दूसरे ओर लोहे की मोटी छड अपनी शक्ति को किसी केन्द्र-विन्दु पर न रख सकने के कारण ही मोटी और ठठ पडी रहती है। वह ठोकने पर भी किसी चीज़ में प्रवेश नहीं पा सकती। कवि अपनी भावना का केन्द्र-विन्दु अत्यन्त सूक्ष्म वना लेता है और सरलता से प्रकृति के सौन्दर्य में प्रवेश पा लेता है। वहाँ जाकर वह प्रकृति की सौन्दर्यशाला से वे रत्न उठा लाता है जो ससार के ऊपरी धरातल पर चलने वालो को स्वप्न मे भी प्राप्त नहीं हो सकते।

जब हम अपने दैनिक जीवन के सुख-दुख को इस सौन्दर्य मे तिरोहित कर लेते है तो हमे उस आनन्द के दर्शन होते है जिसमे कली फूल मे परिणत होती है और फूल अपना विकास फल मे करता है। हम उस विश्व-आनन्द के समीप पहुच जाते है जिसमे काले वादल से विद्युत चमक उठती है और जल नदियो के सहारे महासागर मे पहुचकर अपनी सीमा से मुक्ति पा जाता है। साधारण मनुष्य अपनी दिशा भूलकर—

पथभ्रष्ट होकर अस्नेही मनोविज्ञान में दुःख की सृष्टि करता है। यदि वह एक क्षण भर के लिए मौन हो जाय और अन्तरात्मा की पुकार सुन सके तो उसे ज्ञात होगा कि उसका सुख उसके कार्य-कलाप में नहीं है; उसका सुख है अपने 'अह' को भूल जाने में—अपने को असीम बनाने से। इसीलिए तो बौद्धमत में 'शून्यवाद' का महत्त्व है। धर्मकाय की अनुभूति में मनुष्य की चेतना इस प्रकार अवस्थाहीन हो जाय कि उसका किसी से और किसी का उससे कोई स्पर्श न रह जाय। वह एक मात्र 'शून्य' हो सर्वत्र सचरित हो सके। इस शून्यवाद' में ही वास्तविक आनन्द है, उसी में क्लेश से मुक्ति है। फिर जिस प्रकार तलवार के प्रहार से जल नहीं कट सकता उसी प्रकार ससार की कोई भी विषम परिस्थिति उसके आनन्द के प्रवाह को नहीं काट सकती। परिस्थिति यह है कि अपनी ही सीमा से घिरा हुआ व्यक्ति अपने ही 'अह' की प्रतिध्वनि पाकर भयभीत हो उठता है और वह दुःख का अनुभव करने लगता है। यदि वह अपनी परिधि तोडकर शून्य हो जाय—मुक्त आकाश हो जाय—तो उसकी ध्वनि निकल कर असीम में गतिशील हो जाय और वह समष्टि में निर्विकार होकर सचरण करने लगे। यही भावना रहस्यवाद का प्रवेश-द्वार है।

रहस्यवाद आत्मा में विश्वात्मा की अनुभूति है। उसमें विश्वात्मा का मौन आस्वादन है। प्रेम के आधार पर वह आत्मा और विश्वात्मा में ऐक्य स्थापित करता है। मैं 'ऐक्य' ही कहता हूँ 'एकीकरण' नहीं। एकीकरण की भावना अद्वैतवाद में है और ऐक्य की भावना रहस्यवाद में। अद्वैतवाद और रहस्यवाद में कुछ भिन्नता है। अद्वैतवाद में मिलाप

की भावना का ज्ञान भी नहीं रहता, रहस्यवाद मे यह मिलाप एक उल्लास की तरग बन कर आत्मा मे जागृत रहता है। जब एक जल-बिन्दु अनन्त जल-राशि मे मिलकर अपना व्यक्तित्व खो देता है तब उसे अपने अस्तित्व का ज्ञान भी नहीं रहता। यह भावना अद्वैतवाद की है। लेकिन रहस्यवाद में अस्तित्व का पूर्ण विनाश नहीं होने पाता। मिलाप की भावना करते हुए भी व्यक्तित्व की यह सूक्ष्म जागृति रहती है कि "मै मिल रहा हूँ।" आत्मा विश्वात्मा से मिलकर भी यह कह सकती है कि "मै अपने लाल की लाली जहाँ देखती हूँ वहीं पाती हूँ। जब मै उस लाली को निकट से देखने जाती हूँ तो मै भी लाल हो जाती हूँ।" यहाँ मै और लाल मे एकता होते हुए भी दोनो का अस्तित्व-ज्ञान अलग-अलग है। व्यक्तित्व का अभिज्ञान रहते हुए इस मिलाप की आनन्दानुभूति ही रहस्यवाद की अभिव्यक्ति है। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे 'दो पक्षियो' का रूपक देकर आत्मा और ब्रह्म की अलग सत्ता निरूपित की गई है।[१]

जलालुद्दीन रूमी ने भी आग और तपे हुए लोहे के लाल गोले के रूपक से रहस्यवाद की भावना स्पष्ट की है। जब लोहे का गोला आग से लाल हो जाता है तब उसमे भी आग का गुण आ जाता है, वह किसी को भी जला सकता है किन्तु आग से लाल हो जाने पर भी वह लोहे का गोला तो रहता ही है। उसे हम आग भी कह सकते है और नहीं भी कह सकते है क्योकि अन्ततः वह आग के अतिरिक्त लोहे का गोला भी है। अतः वह आग है भी और नहीं भी है। इसी प्रकार आत्मा ब्रह्म के गुणो से ओतप्रोत हो जाने पर ब्रह्म है भी और नहीं भी है। इसमें

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ ६ ॥

(श्वेताश्वतर उपनिषद् ४–६–७)

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

'व्यक्ति' का विनाश न होकर उसका विकास है! गुण का लोप न होकर ऐक्य है।

इस प्रकार रहस्यवाद मे जीवात्मा की स्थिति एक विरोधात्मक भावना उत्पन्न करती है। जब साधक के द्वारा ब्रह्म की अनुभूति होती है तो वह ब्रह्म मे लीन तो अवश्य हो जाता है लेकिन लीन होने की भावना को भी जानता है। जैसे सूर्य के प्रकाश मे मोमबत्ती। यद्यपि मोमबत्ती सूर्य के प्रकाश मे लीन सी हो जाती है तथापि उसका अस्तित्व भी है क्योंकि वह जलती है।१ वह सूर्य के प्रकाश मे नहीं भी है और है भी। यह वाद की भावना है। साधिका आत्मा ब्रह्म की लाली से मिलकर भी होती है 'लो, मैं भी लाल हो गई।'

इस प्रकार रहस्यवाद ब्रह्म की महान् अनुभूति मे भी व्यक्तित्व की भावना सुरक्षित रखता है। रहस्यवाद मे यह भी निश्चित हो जाता है कि ब्रह्म की शक्ति अपरिमित होकर साधक की शक्ति से उच्चतर है। वह अन्तर्व्यापी होते हुए भी सर्वोपरि है। अन्तर्व्यापी इस रूप मे कि वह संसार के कण-कण मे वर्तमान है। कणों मे व्याप्त इसी ब्रह्म को साधक खोज कर पहचान लेता है। और सर्वोपरि इस रूप मे कि साधक के द्वारा हृदयंगम हो जाने पर भी ब्रह्म की सत्ता श्रेष्ठतर रहती है। जिस प्रकार बहुरंगी पक्षी जल मे सौ बार डूब कर भी अपने पंखों का रंग नहीं खोता, उसी भाँति सर्वोपरि ब्रह्म संसार मे अनेक बार प्रवेश कर

---

१. नव प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ मैं।
(मेरी 'किरण-कण' शीर्षक कविता)

भी अपनी उच्चता सुरक्षित रखता है। इसीलिए सूफीमत में हक को 'लाहूत' और 'नासूत' इन दो गुणों से विभूषित किया गया है। लाहूत का संबंध हक की आध्यात्मिक शक्ति-सपन्नता से है और नासूत का सम्बन्ध सासारिकता से। ब्रह्म ससार मे रहते हुए भी ससार से परे है। यह बात साधक मे नही होती, अतः ब्रह्म के समक्ष वह अप्रधान है। इसीलिए साधक अपने सपूर्ण आत्मसमर्पण के साथ ब्रह्म के समीप पहुचता है। वह अपनी गतिशीलता मे ब्रह्म के समान अवश्य ज्ञात होने लगता है जिस प्रकार गति मे एक विन्दु भी रेखा बन जाता है। और आग की एक चिनगारी अपनी गतिशीलता से सूर्य का मण्डल बना लेती है। लेकिन अन्ततः वह अपने वास्तविक रूप मे एक विन्दु या चिनगारी ही है। इस रहस्यवाद की भावना में प्रेम की प्रधानता है। यह प्रेम ही आत्मा को ब्रह्म के समीप ले जाता है और आत्म-समर्पण मे परिणत होता है। इस प्रेम मे स्वार्थ या आत्म-तुष्टि की भावना नही होती, इसमे होती है एकमात्र अपनी अभिव्यक्ति। इसी अभिव्यक्ति मे आत्मा-ब्रह्म मे जीवित रहती है जैसे एक तारा पूर्णिमा के चन्द्र के प्रकाश में अपना आत्म-समर्पण करते हुए भी आकाश मे चमकता है।

प्रेम का प्रादुर्भाव विवेक में नहीं है। उसकी उदभावना मात्र मे है। इसलिए प्रेमके लिए ज्ञान की आवश्यकता नही है, वह तो आत्मा का अत्यन्त मधुर संगीत है जिसकी तरग मे व्यष्टि समष्टि मे परिणत होती है। विवेक तो शैतान है जो साधक को भावना-पथ से दूर ले जाकर तर्क की मरुभूमि मे छोड देता है। इसीलिए रहस्यवाद मे ज्ञान और विवेक के लिए कोई स्थान नही है। अनुभूति के लिए पाण्डित्य की आवश्यकता नहीं है;

आवश्यकता है जीवन के निकटतम स्पर्श की और यह स्पर्श प्रेम की अत्यन्त मादक और तीव्र शक्ति से सहज ही प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रेम की चरम अभिव्यक्ति दाम्पत्य प्रेम में है। अन्य प्रकार का प्रेम किसी न किसी परिस्थिति में अपूर्ण है, इसकी पूर्णता एकमात्र दाम्पत्य सम्बन्ध से है। आत्मसमर्पण की भावना इसी दाम्पत्य प्रेम में फलीभूत होती है। साधक का रोम-रोम एक-एक वाणी बनकर अपने हृदय की विह्वलता का परिचय दे सकता है। इस प्रेम के आलोक में करुण से करुण भावनाएं भी एक अनिर्वचनीय उल्लास से ओतप्रोत रहती है, इसी लिए तो मारगरेट स्मिथ ने कहा है—रहस्यवादी के लिए यह प्रेम जीवन की मदिरा है जिसमें उल्लास का नशा है, जिसने यह मदिरा पी वह सब प्रकार से कृत-कृत्य हुआ।[१]

कबीर के प्रेम में मादकता, उल्लास और संगीतात्मकता यथेष्ट मात्रा में है। वह जीवन के अन्तर्तम प्रदेश का स्पर्श करता है। वह हृदय की सम्पूर्ण भावनाभिव्यक्ति से सत्य के समीप पहुंचता है। इस प्रेम मे संयोग और वियोग दोनो के चित्र है। लेकिन यह संयोग और वियोग शारीरिक पुकार का रूपक होते हुए भी इससे परे है। इससे आत्म-जिज्ञासा के साथ आत्म-सुख भी है। इस प्रेम मे उत्सर्ग ही प्राप्ति है और मरण ही जीवन है। इसी विचार को लेकर तो ईशावास्योपनिषद् ने 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्" की कल्पना की है। अतः इसमे बुद्धिवाद के लिए स्थान नही है किन्तु यह इतना व्यापक है कि भाषा की भुजाओ से पकड़ा नही जा सकता। इसी भावना मे जीवन नये-नये

---

१. स्टडीज इन अरली मिस्टिसिज्म, पृष्ठ २५१-२५२

अंकुरों में निकलता है, सन्देह और भ्रम की मिट्टी उसका मार्गावरोध नहीं कर सकती। एकमात्र आराध्य के प्रति भावना का चरमोत्कर्ष ही प्रेम की परिभाषा है। कबीर कहते हैं—

नैना अंतिर आव तूं ज्यूं हौं नैन झंपेउं।
ना हौं देखौं और कूं ना तुझ देखन देउ ॥[1]

जब इसी प्रेम मे विरह की पीडा उठती है तब तो ससार की समस्त करुणा जैसे कण-कण मे विभाजित होकर ओस की भांति द्रवित हो उठती है। आत्मा विरहिणी की भांति चीत्कार कर उठती है। विश्वात्मा एक निष्ठुर प्रेमी की भांति दृष्टिगत होता है जो प्रेम करने की क्षमता लिए हुए भी प्रेम नहीं करता। उसे प्रसन्न करने के लिए शरीर नष्ट करना भी साधारण सी बात है। ऐसी स्थिति मे ब्रह्म अलौकिक धरातल से नीचे आकर एक व्यक्ति की भांति ज्ञात होने लगता है। वह सरलता से मानव हृदय की समझ मे आने लगता है। प्रेमी अपने ब्रह्म को अपने ही क्षेत्र में लाकर उससे प्रेम करना चाहता है। कबीर ने रहस्यवाद मे आत्मा को विरहिणी का रूप देकर अपने निराकार ब्रह्म को भी व्यक्तित्व के अन्दर सीमित कर दिया है। वे कहते है:

बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुव मिलन कूं मन नाहीं विश्राम ॥ [2]

इस प्रेम मे प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं है—चातुर्य की भी नहीं। इसमें तो निश्छल भाव से अपने आराध्य की अत्यन्त सरलता से

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १६

२ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ८

अनुभूति होनी चाहिए। कपट के लिए तो कहीं स्थान ही नहीं है। अपने को उच्च आसन पर अधिष्ठित कर प्रेम करने की प्रवृत्ति कमरे में ऊँट खोजने के समान है। रूमी ने अपनी मसनवी में इस सम्बन्ध में एक बड़ी मनोरंजक बात कही है। एक राजा अपने महल में सो रहा था। आधी रात को उसे कमरे में कुछ आहट मिली। उसने जाग कर पूछा—कौन है? आवाज आई कि हम लोग अपना ऊँट खोज रहे हैं। बादशाह ने कहा—ऊँट? क्या ऊँट इस कमरे में है? उन लोगों ने कहा कि हम लोग इस कमरे में उसी तरह ऊँट खोज रहे हैं जैसे तू ऊँचे तख्त पर बैठ कर ईश्वर से मिलने का इरादा कर रहा है।[१] अपने आराध्य की खोज में तो सांसारिक वैभव का साहचर्य ही नहीं है। हृदय की अत्यन्त कोमल और नम्र भावना में ही अपने आराध्य से मिलन होता है। प्रेम में हृदय को टुकड़े-टुकड़े कर देने की आवश्यकता है। पत्थर धूल होकर हवा की गति में मीलों उड़ जाता है। अपने गुरुत्व के बोझ में तो वह जड़ होकर पृथ्वी की छाती पर भार होकर पड़ा रहता है। जिस प्रकार मैली रुई धुनने से सफेद हो जाती है। उसी प्रकार हृदय को खंड-खंड करने से उसमें पवित्रता आ जाती है। इसी लिए तो करुणा प्रेम की सहायिका हो जाती है। यह करुणा की

---

१. सरफरो करदन्द कोसे बुल अजब।
मा हमी गरदेम शब बहरे तलब॥
हे चे मी जोयेद गुफतन्द उशतराँ।
गुफ्त उशतर बाम बर के जुस्त हाँ॥
पस बगुफ्तन्दश कि तू बर तख्ते जा।
चूँ हमी जोई मुलाकाते इला॥ (मसनवी—जलालुद्दीन रूमी)

बाँसुरी उसी की सहचरी है जो वियोगी है। वह इसीलिए रोती है कि उसमे प्राण फूक दिए गए हे। बाँसुरी का एक मुख प्रियतम के ओष्ठ मे है, दूसरा नीचे। एक मुख से वह अधरामृत पान करती है, दूसरे मुख से क्रन्दन। सम्भवतः दूसरा मुख इसीलिए क्रन्दन करता है कि वह अपने आराध्य के मुख मे नहीं है। प्रेम मे अपने आराध्य के वियोग मे आत्मा का यही रुदन है। उस प्रेम मे सुखो की पूर्ण उपेक्षा है। प्रेम की विरहणी को प्रासादो मे भी खडहरो की दुर्गन्धि आती हे। वह एकाकिनो होकर खुद खोजना चाहती है, किसी परिचारिका को साथ नहीं लेती। वह अपने हृदय के सितार पर अनुराग की ऐसी गत बजाती है कि उसका समस्त अस्तित्व ही अनुराग से गूजने लगता है। फिर अपनी गतिशीलता से वह ब्रह्म से मिल जाती है क्योकि ब्रह्म स्वयं अनन्त गतिशील है। और इस गतिशीलता मे लीन हो जाना ही उसकी साधना का पुरस्कार है। जिस प्रकार बीज अपनी अकुरित रेखा मे एक से सहस्र हो जाता है उसी प्रकार आत्मा भी ब्रह्म मे प्रतिफलित होती है।

इस प्रेम और करुणा मे सहोदर सम्बन्ध है। सच्चे प्रेम की प्रस्तावना मे करुणा आ जाती है और करुणा से प्रेम का वास्तविक सौदर्य निखर आता है, जेसे ओस से धुल जाने पर फूल और भी सुन्दर दीख पडता है। इस प्रेम से करुणा फूल से सुगन्धि की भाँति फूट निकलती है। वह उधार नहीं ली जाती। विशुद्ध ब्रह्म की अभिव्यक्ति प्रेम मे उसी भाँति हो जाती है जैसे आनन्द की अभिव्यक्ति सगीत मे है, विकास की अभिव्यक्ति जीवन मे है। इस प्रकार रहस्यवाद मे निम्नलिखित तत्व निहित है—

(१) आत्मा मे आध्यात्मिक दृष्टि से अनुभूति की क्षमता हो। अर्थात् आन्तरिक दृष्टि से वह अपने आराध्य को खोजने के लिए सूर्य की किरण की भाँति सर्वत्र गतिशील हो। वह अपनी यात्रा मे दिशाओं को इसी पार छोड कर आगे बढ जाय। वह सप्ताकाश से भी ऊपर जाने की क्षमता रखे।

(२) उसमे अपने आराध्य से मिलने की भावना का स्मरण रहे। आत्मा और आराध्य मे ऐक्य हो, एकीकरण नहीं। आत्मा के व्यक्तित्व का विनाश न होकर विकास हो।

(३) आत्मा और आराध्य मे प्रेम निश्छल रूप से प्रगतिशील रहे। इस प्रेम मे आत्मसमर्पण की भावना है। दाम्पत्य प्रेम के अनुरूप ही इसमें सपूर्ण व्यक्तितत्व अनुराग से ओत-प्रोत हो उठे।

रहस्यवाद की कविता इन तीनो तत्वो को लेकर एक आनन्दानुभूति मे जन्म लेती है। यह आत्मा की सबसे पवित्र अभिव्यक्ति है। मेरी कविता के दृष्टिकोण मे यही रहस्यवाद रहा है और इसी मे मेरी भावनाओं का विकास हुआ है।

मै यहा एक बात और स्पष्ट कर दू। कविता भावना के सघर्ष मे चिनगारी की भाति फूट निकलती है। सुख की अपेक्षा दुःख मे प्राणो का अधिक स्पन्दन होता है और प्राणो के स्पन्दन के साथ ही कविता गूज उठती है। यही कारण है कि सूरदास सयोग-शृगार का उतना कवित्वमय चित्रण नहीं कर सके जितना वियोग-शृगार का। दुःख मे कविता स्वाभाविक रूप से आवश्यक हो जाती है। सासारिक जीवन के साथ तो दुःख उसी प्रकार है जैसे दीपक के चमकीले वस्त्र के भीतर

जलन। मनुष्य दर्पण होकर भी अपनी परछाई में बैठा है। वह दर्पण के पीछे बैठ कर अपना प्रतिबिम्ब देखना चाहता है। और यही दुःख का आरम्भ होता है। इस प्रकार दुःख कविता की बड़ी प्रेरक शक्ति है। उसीने जीवन का विवेचन है और अभाव का संकेत। एक कवि यह सब स्वाभाविक रीति से कह जाता है, उसे किसी प्रकार की प्रयास की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रयास से कविता नहीं है—कविता का भ्रम है।

आधुनिक समय के कवि छन्द को कविता का बन्धन मानते हैं। वे मुक्त वृत्त में अपनी भावनाओं को उडेल कर निर्द्वन्द्व रूप से कविता लिखे चले जाते हैं। यह स्वतन्त्रता उन्हें भावों के प्रकाशन में स्वच्छन्दता भलेही प्रदान करे किन्तु यह कविता के नादात्मक रूप की, उसके नैसर्गिक सौन्दर्य की उपेक्षा करती है। कविता की विशेषता तो इसी में है कि वह नियमों के अन्तर्गत रहती हुई भी उनसे परे हो जाती है। फूल पंखुड़ियों में सीमित रहते हुए भी अपनी सुगन्धि में असीम है, सिन्धु अपनी मर्यादा में रहते हुए भी अपनी स्वतन्त्रता में विराट् है। पक्षी पंखों के बन्धन में रहते हुए भी गगन-मण्डल में विचरणशील है। अपने नियमों से ही कविता स्वतन्त्रता की परिधि तक पहुचती है। उसकी स्वतन्त्रता में उसके नियम ही सहायक हैं। यदि कविता नियम-रहित हो जाय तो वह अपनी उच्छृङ्खलता में सौन्दर्य का ही विनाश करती है और बिना सौन्दर्य के स्वतन्त्रता केवल विशृङ्खलता (Chaos) में परिवर्तित होगी।

अतः मैं कविता में उसके भावात्मक और रूपात्मक दोनों प्रकार के सौन्दर्य का समर्थक हूँ। कविता अपनी गति में ही स्वतन्त्र होती है—वह

अक्षरों, शब्दों, और मात्राओं से परे होती है। जिस प्रकार जीवन में आन्तरिक सौन्दर्य के साथ ही साथ, वाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा है, सिद्धान्त के साथ आचरण की एकरूपता अपेक्षित है, उसी प्रकार कविता में भी अनुभूति के साथ नियमित गति होनी चाहिए।

आधुनिक कविता में विलास और निराशा की भावना विशेष रूप से है। हमारा कवि दूध पीने वाले बच्चे की तरह इन्द्रियों की गोद में बैठ कर बन्दी हो गया है। फूल अपने लिए फूलता है, काला कीट उसे चुपके से खा डालता है। सौन्दर्य चेतनता की निधि है, विलास उसका विनाश करता है। इन्द्रियों की अग्नि प्रेम को जला देती है। तृप्ति होने पर प्रेम और सौन्दर्य रह कहाँ जाता है? प्रेम के धनुष पर बैठ कर यह विलास बाण की तरह चलता है किन्तु अन्त में पतन ही उसका ध्येय है। विलास तभी स्थायी होता है जब उसमें एक व्यञ्जना होती है—सूर और उमरखैयाम की कविता में जो विलास है वह चिरन्तन है। इसी भाँति अध्यात्म-क्षेत्र में निराशा का मूल्य बहुत अधिक है। कबीर ने अपने पदों में तो आत्मा को 'विरहिन' माना है लेकिन भौतिक क्षेत्र में निराशा श्लाघ्य नहीं है। मैं रहस्यवाद की निराशा का पोषक हूँ, भौतिकवाद की निराशा का नहीं। विनाश और मृत्यु में भी मनुष्य का विकास और जीवन है। मृत्यु की सुई अपने पीछे जीवन का धागा लिए हुए है। जिस प्रकार एक वृत्त की परिधि में बैठा हुआ अन्तिम बिन्दु फिर प्रथम बिन्दु हो जाता है उसी प्रकार विनाश में ही विकास का जन्म होने लगता है। आदि को लौटना ही अन्त का दूसरा नाम है। अतः विकास और विनाश में विरोध नहीं है। वे जीवन के चिरप्रवास के विश्राम हैं।

कविता मे स्थान-स्थान पर मेरे यही विचार अकित हुए है। इसके आगे अपनी कविता की आलोचना करने मे मै असमर्थ हूँ। एक ही भावना से विविध प्रकार की कल्पनाएं क्यो और कैसे हुईं, यह मै जानने मे असमर्थ हूँ। एक ही मिट्टी और पानी मे क्या बात हो गई कि भिन्न-भिन्न रंग के फूल और काँटे एक साथ निकल आए?

छायावाद

प० महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणामयी तर्जनी का सकेत पाकर खड़ी बोली कविता बीसवीं सदी के प्रथम दशाब्द मे अपने पैरो पर खड़ी हो गई और प्रतिभा-सपन्न कवियो की लेखनी की सहायता पाकर साहित्य-निर्माण मे अग्रसर हुई। यह बात दूसरी है कि उस समय भी हिन्दी के अनेक कवि अनुप्रासमयी कोमलकान्त पदावली के सतरगी अवगुठन से सुसज्जित व्रजभाषा की मादकता का मोह नही छोड सके थे और श्यामा, श्याम और करील कुजो की महिमा गाया करते थे। खडी बोली कविता ने ऐतिहासिक इतिवृत्तो और राष्ट्रीय भावनाओ का सहारा लेकर अपना कार्य-क्षेत्र प्रशस्त किया, वह दिनोदिन शक्ति-सचय करने लगी, किन्तु उस समय खडी बोली कविता काव्यगत माधुर्य लाने मे असमर्थ रही। उसका व्याकरण-सम्मत रूप उसके माधुर्य मे बाधा डालता दृष्टिगत होने लगा, काव्यमय होते हुए भी उसकी शब्दावली नीरस और कर्कश ज्ञात होती थी। इस परिस्थिति मे खडी बोली की कविता घटनाओ और व्यक्तियो के बाहरी रूप-रग को निखारने मे और उससे स्फूर्ति प्राप्त कर आवेगपूर्ण कथनो मे ही सीमित रही। उदाहरण के लिए सवत् १९६८ मे लिखी हुई श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'न्यायादर्श' शीर्षक कविता के कुछ छद सुनिये :

काम एक से एक हुए जिनके महान् है
अब भी जिसके यश-स्तंभ दंडायमान है

वीरसिंह का नाम जानता कौन नहीं है
उन्हें महा बलधाम मानता कौन नहीं है
कहते हैं बस, एक पुत्र था पहले उनके,
होते थे सब भीत नाम ही जिसका सुनके
उनके कुल में जन्म लिया था उसने ऐसे
रत्नाकर से हुआ हलाहल प्रकटित जैसे
कुल-कलंक वह राजपुत्र अति अविचारी था
निष्ठुरता की मूर्ति भयंकर बलधारी था
उसके कारण सदा प्रजा शंकित थी सारी
रक्षक भक्षक बने समय की है बलिहारी

आदि। इस प्रकार की कविताओं मे वर्णनात्मकता, उत्साह और आवेश की कमी किसी प्रकार भी नहीं। कथा का सुन्दर रूप, कुतूहलता और घटनाओं की चित्रात्मकता यथेष्ट रूप मे मिलती है और हम यह मान सकते है कि इस प्रकार की रचनाओं ने खड़ी बोली कविता की अभिव्यंजना-शक्ति को बढ़ाने मे विशेष सहायता दी। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के सतत प्रयत्नों से खड़ी बोली कविता ने इतनी शक्ति सग्रह की कि वह अब आन्तरिक संघर्षो और मानसिक द्वन्द्वो को प्रकट करने मे समर्थ हो सकी और छायावाद को सच्ची अभिव्यक्ति दे सकी।

छायावाद वास्तव मे हृदय की एक अनुभूति है। वह भौतिक ससार के क्रोड मे प्रवेश कर अनंत जीवन के तत्व ग्रहण करता है और उसे हमारे वास्तविक जीवन से जोड़कर हृदय मे जीवन के प्रति एक गहरी सवेदना और आशावाद प्रदान करता है। कवि को ज्ञात होता है कि संसार मे

परिव्याप्त एक महान् और दैवी सत्ता का प्रतिबिम्ब जीवन के प्रत्येक अंग पर पड रहा है, एक और उसी की छाया से जीवन का पोषण हो रहा है। एक अनिर्वचनीय सत्ता कण-कण में समाई हुई है। फूल में उसकी हंसी, लहरों में उसका बाहुबन्धन, तारों में उसका संकेत, भ्रमरों में उसका गुंजार और मुख में उसकी सौम्य हंसी छिपी हुई है। कवि कौतूहलमयी जिज्ञासा से उस हंसी को, उस बाहुबन्धन को, उस संकेत को, उस गुंजार को और उस सौम्य हंसी को पहचानना चाहता है। इस संसार में उस दैवी सत्ता का दिग्दर्शन कराने के कारण ही इस प्रकार की कविता को छायावाद की संज्ञा दी गई। इस सम्बन्ध में श्रीमती महादेवी वर्मा का कथन है :

'छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिए जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई, अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है। प्रकृति के लघु तृण और महान वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलाएं, अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड अन्धकार और उज्जवल विद्युत-रेखा, मानव की लघुता, विशालता, कोमलता, कठोरता, चंचलता, निश्चलता और मोह ज्ञान का केवल प्रतिबिम्ब न होकर एक ही विराट् से उत्पन्न सहोदर है। जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने ऐसा

तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके सीमा हृदय से समाया हुआ है, तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा।'

श्री प्रसाद ने सबसे पहले 'आँसू' मे छायावाद का रूप प्रस्तुत किया। उसके कुछ छन्द सुनिए :

इस करुणा कलित हृदय मे
क्यो विकल रागनी बजती
क्यो हाहाकार स्वरों मे
वेदना असीम गरजती

अभिलाषाओ की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भीगी पलकों का लगना

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी नीरद माला
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला

शशि मुख पर घूंघट डाले
अंचल में दीप छिपाये
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आये

आदि। पं० सुमित्रानन्दन पंत की 'मौन-निमंत्रण' कविता छायावाद का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। कुछ छंद उसके सुनिए :

स्तब्ध ज्योत्स्ना मे जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान
विश्व के पलको पर सुकुमार
विचरते है जब स्वप्न अजान

न जाने नक्षत्रो से कौन
निमंत्रण देता मुझको, मौन

सघन मेघो का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार

दीर्घ भरता समीर निश्वास
प्रखर झरती जब पावस धार
न जाने तपक तड़ित् मे कौन
मुझे इंगित करता तब मौन

इसी प्रकार श्रीमती महादेवी जी की कुछ पंक्तियाँ देखिए :

तिमिर मे वे पद-चिन्ह मिले
युग-युग का पंथी आकुल-मन
बाँध रहा पथ के रजकण चुन
श्वासो मे रूंधे दुख के पल

बन बन दीप, चले
तिमिर मे वे-पद-चिन्ह मिले

अलसित तन मे विद्युत सी भर
वर बनते मेरे श्रम-सीकर
एक-एक आँसू मे शत-शत
शतदल स्वप्न खिले
सजनि, प्रिय के पद-जिन्ह मिले

इस सबंध मे मेरी भी एक कविता है :

प्रिय, तुम भूले मै क्या गाऊं
जिस ध्वनि मे तुम बसे उसे
जग के कण कण मे क्या बिखराऊं
शब्दो के अधखुले द्वार से अभिलाषाएं निकल न पाती ।
उच्छ्वासो के लघु लघु पथ पर इच्छाएं चल कर थक जाती ।।
आह, स्वप्न संकेतो से मै
कैसे तुमको पास बुलाऊं
जुही-सुरभि की एक लहर से निशा बह गई डूबे तारे
अश्रु-बिन्दु मे डूब डूब कर हग-तारे ये कभी न हारे
दुख की इस जागृति मे कैसे
तुम्हें जगा कर मै सुख पाऊं
प्रिय, तुम भूले मै क्या गाऊं

इस प्रकार छायावाद ने हिन्दी कविता मे एक नवीन शैली प्रचलित की। एक तो हिन्दी साहित्य मे रहस्यवादी महाकवि कबीर, सूर और जायसी की परपरा ने और दूसरी ओर महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की नोबुल-पुरस्कार-प्राप्त 'गीताजलि' ने खड़ी बोली हिन्दी की इस शैली के प्रसार

मे विशेष सहायता दी। सन् १६१६ मे समाप्त होने वाले विश्वव्यापी महायुद्ध की प्रतिक्रिया ने भी भारतीय जनता की मनोवृत्ति को भौतिकवाद की ओर से मोडकर आत्मा की अनुभूतियो की ओर अग्रसर किया और बीसवी शताब्दी की दूसरी दशाब्दी से महाकवि प्रसाद, पंत, निराला, नवीन, महादेवी और माखनलाल चतुर्वेदी इस क्षेत्र मे प्रशसनीय रचनाओ की सृष्टि करने लगे।

छायावाद ने हिन्दी कविता को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है। उपर्युक्त उदाहरणो से यह स्पष्ट हो गया होगा कि छायावाद ने हिन्दी कविता के न केवल भाव-पक्ष को किन्तु भाषा-पक्ष को भी अत्यन्त सौष्ठव प्रदान किया है। जहाँ भाव-पक्ष अनुभूति से मनोवैज्ञानिक और प्राकृतिक चित्रो से परिपूर्ण हो गया है वहाँ भाषा भी भावो के अनुकूल अत्यन्त मधुर एव सगीतपूर्ण हो गई है। छायावाद ने वास्तव मे हिन्दी कविता को काव्य की उच्चतम सभावनाओ से सपन्न कर दिया है। उच्च-कोटि की कल्पना, प्रकृति के रहस्यो का उद्घाटन, सुख-दुख की एक तीव्र सवेदना, सौन्दर्य का एक आलोकमय दृष्टिकोण और चित्रात्मकता छायावाद की विभूतियाँ है जो खड़ी बोली हिन्दी कविता को प्राप्त हुई।

कई प्रगतिवादी आलोचको ने छायावाद के विरुद्ध अपना मत देते हुए यह कह दिया है कि छायावाद का युग समाप्त हो गया और अब प्रगतिवाद का युग आ गया है। किन्तु ऐसे समालोचको ने छायावाद का वास्तविक अर्थ नही समझा है। साहित्य के दो भाग हुआ करते है। पहला तो साधना-सम्मत जिसमे युग-युग की परंपराओ को पोषित कर जीवन के परिष्कार का दृष्टिकोण रहता है और दूसरा परिस्थिति-

सम्मत जिसमें समसामयिक आवश्यकताओं की प्रेरणाएँ आन्दोलन किया करती हैं। छायावाद और रहस्यवाद प्रथम कोटि में आते हैं और प्रगतिवाद दूसरी में। मैं साहित्य के स्वस्थ जीवन के लिए दोनों को आवश्यक समझता हूँ। छायावाद सभी साहित्यों में और सभी कालों में पाया जाता है। उसे मैं आत्म-परिष्कार का सब से बड़ा साधन समझता हूँ। वह मानवता का एक चरम लक्ष्य-बिन्दु है जिससे जीवन की जड़ परिस्थितियों में उठकर विशुद्ध जीवन की शक्तिमयी अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं जिनसे मनुष्य युग-युग के आघातों को सहन करता हुआ दृढतापूर्वक अपने विकास-पथ पर अग्रसर होता है। मानवता के इतिहास में छायावाद इसी प्रकार आगे चलता जायगा और जिस प्रकार सहस्रों वर्ष पूर्व वेद की ऋचाओं में यह छायावाद और रहस्यवाद था उसी प्रकार आज से सहस्रों वर्ष बाद भी किसी दूसरे रूप में यह छायावाद और रहस्यवाद होगा। इसके साधन भिन्न होंगे, इसकी भाषा भिन्न होगी किन्तु इसकी भावना किसी प्रकार भी भिन्न न होगी।

———

रंगमंच

जिस प्रकार शिशु अपने दोनों हाथ फैलाकर चन्द्र-खिलौना मांगता है, असम्भव घटनाओं के अस्तित्व के लिए हठ करता है, उसी प्रकार नाट्यशाला में बैठी हुई जनता मंच से एक असम्भव सुख लूटना चाहती है, पात्रों से अनुचित और कठिन अभिनय मांगती है। इसमें सन्देह नहीं कि पात्रों का अभिनय जनता की रुचि के अनुसार होना चाहिए, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जनता की गिरी हुई आकांक्षाओं और साधारण रुचि के अनुसार ही पात्रों का अभिनय हो। पात्रों में कला की उत्कृष्टता हो सकती है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि जनता उस उत्कृष्ट कला के रूप की उत्कृष्ट रूप से प्रशंसा अथवा सराहना कर सकेगी अथवा नहीं। जिस समय विविध विचारों में डूबी हुई, कला के रूप की विभिन्न कल्पनाएं करती हुई, जनता नाट्यशाला में प्रवेश करती है, उस समय संचालकों को इस बात का डर सदैव ही बना रहता है कि उनका नाटक दर्शकों द्वारा प्रशंसित होगा अथवा नहीं। उस समय वे जनता की रुचि को पहचानना चाहते हैं। यदि उनकी कला दर्शकों को पसन्द आ गई तब तो उनकी सोने की थैली का वजन बढ़ जाता है अन्यथा धन-व्यय करने पर भी उनके सिर गालियों का बोझ पड़ता है। ऐसी स्थिति में नाटककार और संचालक दर्शकों की रूचि के पीछे ऐसे दौड़ते हैं जैसे एक रंगीन तितली के पीछे उत्सुक और भोले बालक। यदि उन्हें यह ज्ञान हो जाय कि जनता के

हृदय की माग क्या है तो नाट्यशालाओ की सख्या अमावस की रात के तारो की भाति बढ़ जाय। लोग चाहते क्या है, यही समझना तो कठिन प्रश्न है। रस्किन ने एक स्थान पर लिखा है कि जनता एक बच्चे के समान है। जिस प्रकार एक शिशु अपने विचारो के इन्द्रधनुप मे विविध भावनाओ का रग भरा करता है और कुछ क्षणो के बाद उसे मिटा देता है, उसी प्रकार जनता किसी समय एक प्रकार के विचारो मे पूर्णरूप से सलग्न होकर उसी विचार को इन्द्रधनुप के समान मिटा देती है। जो चीज़ एक समय उसे प्रिय थी वही दूसरे समय उसे अप्रिय हो जाती है। ऐसी स्थिति मे नाटक के सचालक वेचारे क्या करें! जो नाट्य-सामग्री एक बार दर्शकों के हृदय मे विप्लव मचा चुकी थी वही सामग्री कुछ दिनो के बाद धूल मे फेक दी जाती है। इसके मुख्यत. दो कारण है—प्रथम तो शिशु के समान जनता की अपरिमार्जित बुद्धि और द्वितीय जनता की धार्मिक प्रवृत्ति।

भारतीय नाटक का जन्म धर्म की गोद मे हुआ था। उसी के सहारे नाटक मे जीवन की शक्तिया आई और उसी ने उसका अस्तित्व ससार मे रहने दिया। ग्रीस के सुखान्त नाटक जिस प्रकार डायोनीसस की पूजा के रूप से प्रारम्भ हुए उसी प्रकार भारतीय नाटक का भी धर्म से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। भारतीय नाटक और मच की उत्पत्ति के विपय मे ई० पी० हारविज़ रचित "दि इडियन थियेटर" मे लिखा है—"एक बार सभी देवता मिलकर ब्रह्मा के पास गए और उन्होने उनसे अपने मनोरजन की सामग्री माँगी। ब्रह्मा ने ऋक् से नृत्य, साम से गान, यजुर् से अभिनय और अथर्व से भाव लेकर एक नाट्यवेद की रचना

की। पहला रंगमंच बनाने के लिए विश्वकर्मा बुलाया गया और उसने इन्द्रभवन मे एक विशाल मञ्च का निर्माण किया। उस मञ्च के ऊपर प्रथम बार इन्द्रध्वज त्यौहार के अवसर पर समवकार के रूप मे अमृत-मथन का अभिनय किया गया, उसके बाद डिम के रूप मे त्रिपुर-दाह का। नाटक मे अपने पुत्र और शिष्यो के साथ भरतमुनि ने तथा गन्धर्व और अप्सराओ ने अभिनय किया था। राजा नहुष ने पहली बार पृथ्वी पर रंगमञ्च की स्थापना की थी और अभिनय कराने के लिए उन्होने स्वर्गीय देवागनाओ, अप्सराओ और गन्धर्वो को पृथ्वी पर आने के लिये बाध्य किया था। यह बात कहा तक सत्य अथवा असत्य है, यह तो नही कहा जा सकता किन्तु हमारे पूर्व-ग्रन्थो के इस वर्णन से ही तीन बाते निष्कर्ष के रूप मे मिलती है:—

(१) नाटक के तत्व हमारे वेदो मे वर्तमान थे।

(२) धार्मिक अवसर पर ही हमारे यहाँ नाटको के अभिनय हुआ करते थे।

(३) स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग लिया करते थे, क्योकि उस समय नाटक एक धार्मिक संस्था के रूप मे माने जाते थे।

नाटक की इस परम्परागत कथा ने ही भारतीयो के हृदय मे धर्म और नाटक का ऐसा एकीकरण कर दिया कि सारी जनता के हृदय मे नाटक मे धर्मतत्व देखने की उत्कंठा-सी उत्पन्न हो गई। यही कारण है कि पुराने नाटको मे धर्म का तत्व व्यापक रूप से पाया जाता है। जब भारतीयो के हृदय एक बार धर्ममय नाटको मे मिल गए, तब उनसे यह कैसे आशा की जा सकती थी कि वे एक बार ही धर्म के वातावरण से

निकलकर अन्य प्रकार के नाटकों की ओर अपनी आँख उठा सकेंगे। भारतीय जनता की यही रुचि जो इस समय धर्म और वर्तमान-कालीन सभ्यता की सर्वतोन्मुखी प्रवृत्ति के बीच मे उलझी है—किसे ग्रहण करे और किसे त्यागे—वर्तमान मच-सचालकों की असुविधा का कारण बन रही है ।

जनता की धार्मिक प्रवृत्ति पर प्रकाश डालने के पश्चात् उसकी अपरिमार्जित बुद्धि पर विचार कीजिये। हिन्दी मे अच्छे नाटकों की सख्या प्रातःकालीन तारो की भांति बहुत ही कम है। ऐसी स्थिति मे जब कि जनता को यह अवसर ही नहीं दिया जाता कि वह अच्छे-अच्छे नाटकों को देखकर अपनी प्रवृत्तियो और भावनाओ को मॉज सके, तब उससे परिमार्जित रुचि की आशा करना वैसाही है जैसा किसी भूखी भिखारिणी से विविध व्यजनो की स्वादोत्कृष्टता का पता पूछना । जब दर्शकमडली नाटक के वास्तविक तत्वो को जानती ही नहीं तब, ऐसी स्थिति मे, वह किस प्रकार अपनी रुचि को सुधार सकती है ?

अभी उस दिन प्रयाग के विश्वम्भर-पैलेस मे न्यू अलफ्रेड थियेट्रीकल कम्पनी आई थी। नाटक था 'गणेश-जन्म'। मैं भी एक आलोचक की हैसियत से वहॉ गया था। आदि से अत तक देख लेने पर मुझे ज्ञात हुआ कि सचालक अथवा नाटककार ने नाटक के आदर्शों को पाने की चेष्टा तो नहीं की, वरन् जनता की अपरिमार्जित रुचि मे गुदगुदी पैदा करने की कोशिश की है। दृश्यों की जगमगाहट और पर्दो की 'फट-फटाहट' ही नाट्यशास्त्र का अग बन गई थी। जनता के हृदय मे कौतूहलवर्द्धक भावनाओ को जागरित करने की विधिया जुटाई गई थी।

सती का सीता के रूप में अकस्मात् परिवर्तित हो जाना, शिव के काष्ठ-निर्मित नन्दी का अपने पैरों पर खड़े हो जाना, मंच पर दक्ष-प्रजापति का सिर काटा जाना, कामदेव का पुष्पबाण से उजड़ी हुई प्रकृति में पीले और गुलाबी फूलों का अकस्मात प्रादुर्भाव कर देना, मंच पर गणेश का सिर काट कर उनके शरीर में हाथी का सिर जोड़ देना आदि कितनी ही घटनाएं दर्शकों के हृदय में आश्चर्य और कौतूहल उत्पन्न करनेवाली थीं। कथानक का पता नहीं था कि वह किस कोने में पड़ा हुआ है। ऐसा ज्ञात होता था कि मंच किसी जादूगर की दुकान है, जहाँ क्षण-क्षण में आश्चर्यजनक परिवर्तन होता रहता है। कथावस्तु रास्ता भूलकर न जाने कहाँ पिछड़ गई थी, पर कौतूहलवर्द्धक घटनाएं एक-एक कर मंच पर आती जाती थीं, मानो नाटक के संचालक ने अपना 'कमाल' दिखलाने के लिये ही प्रयाग की सारी जनता को आमन्त्रित किया हो! बीच में सिनेमा का प्रयोग भी किया गया था और उसके अन्तिम दृश्य का जोड़ मंच के अभिनय से दिखलाया गया था। दर्शकों के हाथ रुक न सके। मुख के शब्दों के साथ-साथ हाथों ने भी तालियों के शब्द से सराहना की। सारा पैलेस करतल-ध्वनि से गूंज गया। "स्प्लेंडिड", "सुपर्ब", "एक्सीलैंट" और "खूब-खूब" के शब्दों के शोर में तालियों का शोर मिल गया। नाटक के समाप्त होने पर मैंने दर्शकों से जो पैलेस से हर्ष, प्रशंसा और उत्साह की मुद्रा से निकल रहे थे, पूछा—नाटक कैसा हुआ? सभी ने प्रशंसा से सिर हिलाकर कहा—"कमाल है!" यह थी जनता की रुचि।

डब्लू० ए० डारलिंगटन ने अंग्रेजी में एक किताब लिखी है। उसका

नाम है—"लिटरेचर इन दी थियेटर" (Literature in the Theatre)। उसमे उन्होंने लिखा है कि नाटक के तीन तत्व है—कथावस्तु, शैली और चरित्र। उन नाटको मे जो जनता मे आदृत है, उनमे कथावस्तु का तो अधिक विस्तार रहता है, पर दो पैसे के मूल्य का चरित्र और शैली का प्राय: अभाव रहता है। जो नाटक साहित्यिक नाटको की श्रेणी मे आता है, और जो अभिनेताओ द्वारा 'रद्दी' कहा जाता है, उसमे शैली की उत्कृष्ट मात्रा रहती है, कुछ चरित्र-चित्रण और कथानक प्राय: शून्य-सा रहता है। आदर्श नाटको मे ये बाते विस्तार से पाई जाती है। नाट्यशास्त्र का जो विद्यार्थी है, यदि वह मन लगाकर नाटको का रगमच पर अध्ययन करे और यदि वह नाटको के बाह्य और अन्तरतम रूप पर विचार करे, तो कुछ ही दिनो मे उसे कथावस्तु मे आनन्द नही आवेगा। नाटको को अधिक सख्या मे देखकर उसे कथानक की ओर से वैसे ही अरुचि हो जायगी जैसे कि एक बहुत मिठाई खानेवाले को मिठाई खाने के पश्चात मिठास से हो जाती है। उसका एक कारण है। अनेक नाटको का कथानक आपस मे मिलता-जुलता सा है। कहते है, ससार मे केवल सात कथानको का ही अस्तित्व है। भिन्न-भिन्न नाटक, किताब और उपन्यास के कथानक उन्ही सात कथानको के रूप मे यत्र-तत्र परिवर्तित कर बनाये जाते है। ऐसी स्थिति मे बहुत सम्भव है—सम्भव क्या, सत्य ही है कि अनेक नाटको का कथानक एक-दूसरे से बहुत मिलता-जुलता हो। इसी सादृश्य के कारण नाट्य-शास्त्र के विद्यार्थी का ध्यान स्वभावत: पुनरुक्तिमय कथा-वस्तु की ओर से हटकर चरित्र-चित्रण की विभिन्नताओ अथवा शैली

की रीतियों की ओर आकृष्ट होता है। जहाँ तक कि यदि नाटक में विशेष कथावस्तु न भी हो तो उसे इस बात की चिन्ता न होगी। वह तो नाटक की अधिक रोचक और विविध विचारों से युक्त शैली की ओर ध्यान देगा। इसलिये जनता, जिसे नाटक के कथा-साहश्य का कम ज्ञान है शैली और चरित्र की अपेक्षा कथावस्तु की ओर अधिक आकर्षित होगी। दूसरी ओर नाटकों का मनन करनेवाला विद्यार्थी, जिसे कथा साहश्य का ज्ञान है, कथावस्तु की ओर ध्यान ही न देगा। इसलिए जो नाटककार जनता की प्रशंसा चाहते हैं वे चरित्र-चित्रण और शैली की ओर कम ध्यान देकर कथावस्तु की ओरही अधिक ध्यान दें। उनके नाटकों में उपन्यासों के समान कहानियाँ हों। दर्शकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए उनके पास काफी "मसाला" हो, तभी वे जनता की प्रशंसा के पात्र बन सकते हैं, अन्यथा नहीं।

डारलिंगटन के इस मत से मैं पूर्णरूप से सहमत इसलिए नहीं हूँ कि वह पाश्चात्त्य जनता अथवा दर्शकों की रुचि देख रहा है और मैं पूर्वीय जनता की रुचि पर ध्यान दे रहा हूँ। मैं यह मानता हूँ कि दर्शकों को, जो समान रूप से नाटक के तत्वों को नहीं जानते, चरित्र-चित्रण और शैली पसन्द नहीं, किन्तु केवल कथावस्तु या कहानी ही भारतीय दर्शक-वृन्दों का मनोरंजन नहीं कर सकती। पाठकों की बात दूसरी है। वे एक कोने में बैठ कर अपने ही ध्यान के संसार में पात्रों की कल्पना करके कथावस्तु का आनन्द लूट सकते हैं, पर दर्शकों के साथ बात ही दूसरी हो जाती है। रुचि परिष्कृत न होने के कारण वे कुछ तमाशा देखना चाहते हैं। अतएव कहानी के साथ ही यदि आश्चर्य-जनक घटनाओं का

भी समावेश हो—चरित्र की बहुरंगी रूप-रेखा हो—तो दर्शकों की कौतूहलता और प्रसन्नता दुगुनी बढ़ जायगी और उनके मुख से 'वाह-वाह' की ध्वनियां अवश्य निकल आयेंगी। इसलिये कुतूहलवर्द्धक घटनाओं और पात्रों की अनेकता का अस्तित्व कहानी के साथ-साथ ज़रूरी है। तभी नाटककार को प्रशंसा का पुरस्कार मिल सकता है। केवल कहानी द्वारा ही दर्शक-हृदय नहीं समझाया या बहलाया जा सकता।

रंगमंच की जनता के विषय को छोड़कर अब रंगमंच की विवेचना करना आवश्यक है। नाटकों का सार्थक अस्तित्व मैं रंगमंच के सम्बन्ध से ही समझता हूं। पूर्वकाल में भी, जब नाटक अपने शिशुपन में था, नाच और वार्तालाप नाटक के अनिवार्य सहायक थे। सत्रहवीं शताब्दी में इंगलैंड में नाटकों की सूचना पात्रगण नाटक के वस्त्र पहनकर घूम-घूम कर दिया करते थे। नाटक और अभिनय ये दो ऐसी वस्तुएं हैं जो एक दूसरे से अलग नहीं की जा सकती। मेरे विचार से किसी भी भांति नाटकों की उत्कृष्टता का निर्णय बिना मंच के सम्पर्क के नहीं हो सकता। यदि नाटक प्राण हैं तो मंच उसका शरीर। जो नाटक मंच पर खेले जाने पर अपना बहुत-सा सौन्दर्य खो देते हैं वे चाहे साहित्य की दृष्टि से कितने ही अच्छे क्यों न लिखे गये हों, पर अच्छे नाटकों की श्रेणी में रखने के सर्वथा अनुपयुक्त हैं। रंगशाला में नाटक का महत्व मंच पर खेले जाने पर हैं, साहित्यिक ख्याति से नहीं। वहां नाटक प्रथमतः अभिनय करने की वस्तु है, फिर साहित्य की उज्ज्वल रत्नराशि। यह एकान्त सत्य है, पर इसका रूप रंगशाला के महारथियों ने बहुत विकृत

कर दिया है। वे समझते है कि रगमञ्च का अभिनय एक बात है और साहित्य दूसरी। नाट्य-मञ्च पर अभिनय होने वाली चीज साहित्य हो ही नही सकती। बात यह है कि नाटक वस्तुतः कथोपकथन मे ही लिखे जाते हैं और इसलिए साधारण बोलचाल की ही भाषा उन मे प्रयुक्त होती है। साधारण बोलचाल की भाषा जो साधारण जनता मे प्रचलित है, साहित्य का स्वरूप कभी ग्रहण नही कर सकती। उसके बोलचाल का नग्न सग्रह साहित्य नही कहा जा सकता। इसके विपरीत जब नाटक के पात्र साहित्यिक भाषा का प्रयोग करने लगते है तो वे जीवन की साधारण भाषा से बहुत दूर पड जाते है और उनके शब्द और वाक्य उपहासास्पद और अ-नाटकीय हो जाते है। अतएव यह निश्चय है कि जो वस्तु मञ्च पर कही जाती है वह साहित्य नही और जो साहित्य मञ्च पर लाया जाता है वह नाटकीय नही है। अतः यह स्पष्ट है कि नाट्य-वस्तु और साहित्य मे आकाश-पाताल का अन्तर है। वे कहते है कि नाटक बोलने और अभिनय करने की वस्तु है और साहित्य पढने तथा मनन की। कला के दो रूप एक-दूसरे से बिलकुल विपरीत है।

लगभग चौदह वर्ष हुए, मिस्टर ई० सी० मोटेग्यू ने इसकी बडी खोज की थी। अन्त मे उनके कथन का तात्पर्य यही था कि नाटक जितने ही अधिक साहित्यिक होगे उतने ही अधिक वे रग-मञ्च के अयोग्य और जितने ही अधिक वे रगमच के योग्य उतने ही अधिक अ-साहित्यिक होगे। यही सिद्धान्त अमेरिका के एक प्रसिद्ध अभिनेता मिस्टर जेम्स के० हैकेट ने प्रदर्शित किया है। उन्होने मिस्टर डारलिगटन को एक पत्र मे लिखा है—

"........'अभिनीत होने वाले (असाहित्यिक)' और अभिनीत न होने वाले (साहित्यिक) नाटक के विषय मे जो विचार है वे एकान्त सत्य हैं और अनुभवी मनुष्य उनमें शका न करेगा। मैं अपने कालेज के दिनो की घटना का जिक्र करता हूँ, जब मैं वक्तृता का पदक लेने की कोशिश कर रहा था। वक्तृता देने वालो के लिए यह आवश्यक था कि वे प्रथम वक्तृता लिखकर अग्रेजी विभाग मे उसकी प्रति दे दें। कुछ सप्ताह के बाद मुझे प्रोफेसर साहब ने बुलाया और भर्त्सना-पूर्ण शब्दो मे कहा—'मिस्टर हैकेट, मुझे तुमसे यह आशा नहीं थी। तुमने तो ऐसा खराब लिखा है कि उसे दुबारा पढने की तबीयत ही नही होती। यह फेक देने लायक चीज है। यदि तुम्हारा निर्णयक मैं होता तो तुम्हे शून्य देता।'

मैने उत्तर दिया—'प्रोफेसर साहब, यह वक्तृता कहने या सुनने की वस्तु है सोचने-समझने या अध्ययन करने की सामग्री नहीं। वक्तृता और साहित्य ये दोनो भिन्न-भिन्न विषय है। एक के द्वारा हम श्रवण-शक्ति को उत्तेजित करते हैं, दूसरे से मनन और अध्ययन शक्ति को।'

इसी प्रकार नाटक और साहित्य मे अन्तर है। नाटक खेलने और बोलने की वस्तु है, साहित्य मनन करने की। न तो नाटक साहित्य हो सकता है और न साहित्य नाटक ही। नाटककार यही तो भूल करते है कि वे नाटक को प्रकाशित कराके साहित्य के समान पढने और अध्यन करने की वस्तु बना देते हैं"। पर वास्तव मे सत्य इससे दूर है।

हिन्दी मे राधेश्याम जी के नाटक पूर्ववत् इसी मत की पुष्टि करते है। उनके नाटको से भी एक ही स्वर निकलता है कि रग-मच के नाटको का

साहित्य से कोई सरोकार नहीं । राधेश्याम-रचित "मशरिकी हूर" का चौथा सीन इसी मत का प्रतिपादक है ।

"मुकाम जगल"

(कमाल और जमाल आते हैं)

कमाल—अमाँ, जमाल ।

जमाल—हाँ, मियाँ कमाल ।

कमाल—यह हमीदा तो रोज-बरोज आगे बढती जाती है ।

जमाल—हाँ, बिला मूछोंवाली मूछवालो को बात-बात मे झिपाती है ।

कमाल—यह न होती तो मै अब तक रुस्तम कहलाया होता ।

जमाल—और मैने सुहराब का खिताब पाया होता ।

कमाल—जमाल, वाकई तुम जमाल हो ।

जमाल—और कमाल, तुम भी कमाल हो !

... .

मिस्टर हैकेट और वर्तमान थियेट्रीकल कंपनी के नाटककारो से मैं इस बात मे सहमत नहीं हूँ । यह सत्य है कि बोलने और सुनने की वस्तु मे पढ़ने या लिखने की वस्तु से कुछ विशेषता अवश्य होनी चाहिये, पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह बोलने और सुनने की वस्तु न हो । कुछ वर्ष हुये, सर जगदीशचन्द्र बोस ने इलाहाबाद-यूनीवर्सिटी का कन्वोकेशन एड्रेस पढा था । वक्तृता के अतिरिक्त वह मनन करने की वस्तु भी थी । इसी प्रकार नाटक अभिनय के उपयुक्त होते हुये भी साहित्य हो सकता है । रगमच की आवश्यकताओ की पूर्ति करते हुए

भी नाटक मे साहित्य का सौन्दर्य पाया जा सकता है। श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी-रचित कृष्णार्जुन युद्ध मे मच और साहित्य का मिलाप देखिये—

द्वितीय दृश्य

स्थान—गगा तट

(एक गधर्व अपनी स्त्री और उसकी सखी-सहित विमान द्वारा उतरता है। कपड़े उतार कर सब गगा मे तैरते हैं)

गंधर्व—(तैरते हुए) प्रिये चित्रांगी, तुम्हारे कोमलांगो के स्पर्श से मृदुता का पाठ सीख ये लहरियाँ धीरे-धीरे पास आती हैं—मानों सशक-भाव से यह पूछने के लिये कि हममे वह कोमलता आई है या नही।

सखी—प्रिय सखि चित्रांगि, चित्रसेन महाराज ठीक तो कहते हैं। इन तरगो मे कही-कही छोटे-छोटे गड्ढे भी है। कह सकती हूँ कि यह तुम्हारे कपोल-भग का अनुकरण है।

चित्रसेन—चचल मछलियाँ आँखो का अनुहार करती है, सिवार इन लहराते केशो का और भवरे इनकी गुनगुनाहट का।

चित्रागी—बस, महाराज।

सखी—और—

चित्रागी—(कुछ क्रोध प्रकट कर) क्यो प्रेमलता, चुप न रहेगी!

प्रेमलता—सखि, मै कहने वाली थी कि गगा मे मेरी सखी के स्वरूप का सभी सामान है; किन्तु मै अब यही कहूँगी—गगा! तेरा प्रयत्न व्यर्थ है। मुसकराते हुए बदन और क्रोध-भरी भौहो का योग तू किस प्रकार साधेगी?

चित्रागी— गगा वेचारी क्या योग साधेगी, किन्तु इस समय तुम दोनो का योग खूब सधा है !

प्रेमलता—सखी चिढ़ो ना, तुम हमारे हृदय की प्रशसा नहीं करती कि हम दोनो तुम्हारे स्वरूप को ससार की प्रत्येक वस्तु मे देखते है ।

चित्रसेन—ठीक कहा सखी, किन्तु पूर्णतया नही । यह नदी चंचल है, मेरी प्रिया नहीं ।

प्रेमलता—सखी का मन तो चचल है ।

चित्रागी—हॉ, हॉ चचल है, किन्तु तुमसे कम ।

चित्रसेन—प्रिय, चलो उस पोखर मे से कमलो को तोड लावे ।

(सब एक ओर तैरते हुए जाते है और दूसरी ओर से ऋषि..)

सस्कृति के वातावरण मे सभ्यगण इससे भी परिष्कृत भाषा का प्रयोग करते है । ऐसी स्थिति मे स्वाभाविक बोलचाल से यह भाषा किसी भॉति भी भिन्न नहीं कही जा सकती । मंच-रक्षा और साहित्य-सौन्दर्य की यह गगा-जमुना हिन्दी मे नाटकों का आदर्श स्वरूप रख सकती है ।

नाटक को साहित्य से भिन्न स्थान देने के लिए मचवालो का दूसरा विरोध यह है कि नाटक का कोई अवतरण साहित्यिक दृष्टि से चाहे कितना ही सुन्दर और मनोहर क्यो न हो, पर मच के अनुसार परीक्षा लेने पर ज्ञात हो जायगा कि उस मे नाटकीय तत्व बिलकुल नही है । इसमे सन्देह नहीं कि अमुक अवतरण काव्य दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट है, किन्तु वह कार्यव्यापार को आगे बढ़ाने मे कितनी सहायता देता है ! ऐसे अवतरण केवल साहित्य के लिए मणि है, पर मच के लिए निरर्थक कॉच के टुकडे । इसीलिए साहित्यिक नाटक मच से बहुत दूर जा गिरते

हैं। उदाहरणार्थ बाबू जयशंकरप्रसाद का "जन्मेजय का नागयज्ञ" नाटक लीजिये—

दूसरा अंक

पहला दृश्य

[एक ओर से जन्मेजय का प्रवेश। दोनो (आस्तीक और मणि-माला) को देख कर जन्मेजय आड मे खडा हो जाता है]

जन्मेजय—(स्वगत) मनुष्य क्या है? प्रकृति का अनुचर और नियति का दास, या उसी की क्रीडा का उपकरण! फिर क्यो वह अपने आप को कुछ समझता है और प्रकृति को खिलवाड़ मानता है? आज इस आश्रम के महर्षि से इसका रहस्य जानना चाहिए। अहा! कैसा पवित्र स्थान है! और यह देव-द्वन्द्व भी कैसा मनोहर है!

(नेपथ्य में संगीत)

जीने का अधिकार तुझे क्या, क्यो इसमे सुख पाता है।
मानव, तूने कुछ सोचा है, क्यो आता, क्यो जाता है?
आद्य अविद्या कर्म हुआ क्यो, जीव स्व-वश तब कैसे था?
महाशून्य के पट मे, पहला चित्रकार क्यो आता है?
शुद्ध नाद था बड़ा सुरीला, कोई विकृति न थी उसमे।
कौन कल्पना करके उसमे मीड़ लगाकर गाता है?
कल्प-कल्प की भ्रांति दुख की क्षण भर का सुख भला लगा।
असि-धारा पर धरा हुआ, सुख उससे कैसा नाता है?

दुख ने क्या दुख दिया तुझे कुछ इसका कभी विचार किया।
चौंक उठा तू झूठे दुख पर, कुछ भी तुझ न आता है !!
कारण, कर्म न भिन्न कहाँ है, कर्म ! कर्म चेतनता है।
खेल खेलने आया है तू, फिर क्यों रोने जाता है ?
इस जीवन को भिन्न मानकर क्षण-क्षण का विभाग करता।
लीला से तू दुखी बन गया लीला से सुख पाता है !!
तू स्वामी है, तू केवल है स्वच्छ, सदा तू निर्मल है।
जो कुछ आवे, करते चल तू, कहीं न आता जाता है ॥

इन अवतरणों के सम्बन्ध मे जो प्रश्न किया जाता है वह यह है कि क्या ये कार्य-व्यापार को बढ़ाने मे सहायता देते है ? उसका उत्तर मै निर्भीकता से देता हूँ 'हॉ' । ये नाटकीय कार्य-व्यापार की बड़ी सहायता करते हे, और वह सहायता इस प्रकार दी जाती है।

प्रत्येक मच का कार्य-कर्त्ता इस बात से सहमत है कि नाटक मे सौन्दर्य और सजावट का रहना अनिवार्य है। वह सौन्दर्य या तो बाह्य हो या आन्तरिक। भॉति-भॉति के रग-बिरगे कपड़े, तरह-तरह के दृश्य-मय पर्दे, प्रकाश आदि सभी बाह्य सौन्दर्य की वस्तुए है। इनका रहना वर्तमान रगमच मे अनिवार्य-सा है। क्या मच-महाशय उत्तर दे सकते है कि अनेक प्रकार के वस्त्राभूषण, परदे और प्रकाश नाटकीय कथा के कौन से भाग है ? यदि वे नाटकीय कथा के भाग नही है, अथवा नाटकीय कार्य-व्यापार को आगे नही बढ़ाते तो नाटक मे उनका अस्तित्व क्यो है ? मै इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार द सकता हूँ कि उपर्युक्त वस्तुए यद्यपि नाटकीय कथावस्तु मे कोई स्थान नही रखती, तथापि वे दो

कार्य करती हैं, जिनसे उनका मंच पर रहना सार्थक और आवश्यक हो जाता है। प्रथम तो वे दर्शकोंकी सौन्दर्योपासक भावना की तृप्ति करती है और दूसरे कथानक के वातावरण की सृष्टि। परदों के बिना दर्शकों को अपनी कल्पना-शक्ति पर बहुत ज़ोर देना पड़ेगा और अनुमान से तत्कालीन दृश्य को अप्रत्यक्ष रूप से देखना होगा। दूसरे उनको कहीं-कहीं नाटक नीरस-सा प्रतीत होगा। दर्शक-गण बिना बाह्य सौन्दर्य के नाटक के रूप को उसी प्रकार कठिनता से देख सकेंगे, जिस प्रकार मलेरिया का रोगी कड़ुवी कुनीन को बड़ी कठिनता से खा सकेगा। ठीक बाह्य सौन्दर्य की भाँति सुन्दर साहित्यिक अवतरण नाटक का आन्तरिक सौन्दर्य है। साहित्यिक अवतरण भी जनता की सौन्दर्योपासक भावना की तृप्ति करते हैं और साथ-साथ कथानक के वातावरण का निर्माण भी। "जन्मेजय का नागयज्ञ" नाटक मे नेपथ्य के सगीत ने शान्त और वैराग्य के वातावरण की कितनी सुन्दर सृष्टि की है।

दूसरी ओर से साहित्यिक नाटककारो की ध्वनि सुनाई देती है। वे कहते है—नाटककार को दर्शको से क्या मतलब? वह मंच के चौखटे मे अपने नाटक का चित्र क्यों कस दे? उसे तो कला-रूप से नाटक की रचना और उसी की उत्कृष्टता से काम है, दर्शको और मच का विषय तो मंच-सचालक का है। सच्चे कलाकार का दर्शको से क्या सम्बन्ध? उस नाटककार को, जो सच्ची कला के रूप की अवतारणा करता है, इन साधारण झंझटो से क्या सरोकार? उसके उत्कृष्ट आदर्शके सामने दर्शक-वृन्दो और मच का मामला रखना उसे स्वर्ग से खींचकर नरक मे गिराना है! आत्म-प्रदर्शन के लिए ही उसकी कला है। वह तो "स्वान्तः

सुखाय" लिखता है। उसे क्या पड़ी है जो वह दर्शकों को—चाहे वे अच्छे हों, या बुरे हों—रिझाने के लिए बैठे? इस प्रश्न का उत्तर विलियम आर्चर ने अपनी प्ले-मेकिंग (Play Making) पुस्तक में बड़ी अच्छी तरह से दिया है। वे लिखते हैं, जो कलाकार इसी तरह सोचना पसंद करते हैं उनसे मुझे कुछ नहीं कहना है। उन्हें पूरा अधिकार है कि जिस प्रकार अपने नाटकों में (जो शायद नाटक कहे जा सकते हैं!) अध्ययन या अभिनय के द्वारा आत्म-प्रदर्शन करें। किन्तु जो नाटककार वास्तव में आत्म-प्रदर्शन करना चाहता है उसे मंच की सहायता लेनी पड़ेगी। एक चित्रकार चाहे "स्वान्तःसुखाय" सुन्दर चित्र खींचे, मूर्तिकार मूर्ति बनाये, गायनाचार्य गीत गाये, किन्तु नाटककार बिना मंच के आत्म-प्रदर्शन कर ही नहीं सकता। बिना मंच के अस्तित्व के नाटक के कुछ मानी नहीं होते। वह जीवन का ऐसा प्रदर्शन है जो मंच के वातावरण में ही हो सकता है, अन्य स्थान पर नहीं। इसी लिए तो उपन्यास और नाटक में बड़ी भिन्नता है। एक का दिग्दर्शन हृदय पर होता है, दूसरे का मंच पर।

अतएव अब हम इस निष्कर्ष पर पहुंच चुके हैं कि रंगमंच और साहित्य से युद्ध नहीं, वरन् शुद्ध सन्धि है। हमारे हिन्दी नाटककारों को मंच की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही नाटक लिखना चाहिए। मंच की अवहेलना कर निरे साहित्यिक नाटकों से हिन्दी का नाट्यक्षेत्र गौरवान्वित नहीं हो सकता।

वर्तमान हिन्दी-नाटकों का समूह दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहले प्रकार के वे नाटक हैं जिनमें केवल रंगमंच का ध्यान

रक्खा जाता है। उनमें दर्शकों के कौतूहल-वर्द्धन की सामग्री रहती है। उनमें वास्तविक जीवन का चित्रण नहीं के बराबर रहता है और साहित्य के अस्तित्व का तो पता भी नहीं चलता। ऐसे नाटक उपन्यास-बहार आफिस से बहुत प्रकाशित हुए हैं। राधेश्याम जी के भी बहुत से नाटक इसी ढंग के हैं। उनमें मंच की सुविधा का तो यथोचित ध्यान है, परन्तु जीवन की प्रतिकृति का सर्वथा अभाव है।

दूसरे प्रकार के वे नाटक हैं जिनमें केवल साहित्य की लड़ियाँ सजाई जाती हैं। ऐसे नाटक की रचना इस प्रकार की जाती है, मानों उसके सभी दर्शक दार्शनिक अथवा कवि हैं। यद्यपि उनमें जीवन का चित्र, मानवीय भावनाओं का स्पष्टीकरण एवं मनोविज्ञान की स्पष्ट मूर्ति रहती है; पर उनमें मंच की साधारण से साधारण सुविधा की ओर ज़रा भी ध्यान नहीं रक्खा जाता। मंच की अवहेलना करने पर उच्च कोटि का साहित्यिक नाटक भी वास्तव में आदर्श नाटक नहीं कहा जा सकता। इसी श्रेणी में बाबू जयशंकरप्रसाद के कुछ नाटक हैं—प्रेमचन्दजी के भी दो नाटक (संग्राम और कर्बला) हैं।

हमें हिन्दी में ऐसे नाटकों की सृष्टि करना है जो वास्तव में जीवन की प्रतिकृति होते हुए भी रंगमंच में सुविधानुसार पूरे उतर आयें। उनमें साहित्य की व्यंजना भी यथेष्ट हो और रंगमंच की आवश्यकताओं की सामग्री भी पूर्ण रीति से हो। जिस समय हिन्दी में ऐसे नाटकों की सृष्टि होगी उस समय हमारा हिन्दी नाट्य-शास्त्र अन्य साहित्यों के अच्छे नाटकों से समानता कर सकेगा। इस समय बाबू जयशंकरप्रसाद जी के नाटकों की प्रवृत्ति इस आदर्श स्थिति की ओर है।

नाटकों के अभिनय का समय अधिक से अधिक दो-तीन घंटे तक ही परिमित रहना चाहिये। चीन के नाटकों की बात छोड़ दीजिये, जहाँ एक नाटक में सोलह अंक होते है और प्रत्येक अंक एक घंटे में समाप्त होता है। (शायद अफीम का ही यह परिणाम हो!) पर हमें तो तीन घंटे से अधिक समय किसी अभिनय को देना ही नहीं चाहिये। हम एक स्थिति में एक बार सुविधानुसार तीन घंटे से अधिक बैठे भी नहीं रह सकते और न तीन घंटे से अधिक एक ही वस्तु को अपना ध्यान समेटे हुए देख ही सकते है। ऐसी स्थिति में हमें अधिक समय (जिससे शरीर और मन को असुविधा) मनोरंजन में नहीं देना चाहिये। यदि कोई नाटककार यह कहे कि मैं दो या तीन घंटे के भीतर अपने हृदय की सारी भावनायें दर्शकों के सामने नहीं रख सकता, तो वह नाटककार नहीं है। विलियम आर्थर का कहना है कि जो नाटककार दर्शकों अथवा मंच की अवहेलना करता है वह केवल अपना सम्मान और लाभ ही नहीं खोता, वरन् अपनी रचना के कलारूप को भी खो देता है। हिन्दी में ऐसे कई नाटक है जिनकी पृष्ठ-संख्या दो सौ के लगभग या दो सौ से ऊपर है। ऐसे नाटक तीन घंटे में नहीं खेले जा सकते। उन्हें तीन घंटे में लाने के लिए कतर-ब्योंत की जरूरत पड़ेगी। ऐसी स्थिति में यह संभव है कि नाटक का साहित्यिक सौन्दर्य बहुत कुछ नष्ट हो जाय। इसलिये इस 'कतर-ब्योंत' से बचने के लिए पहले ही से ऐसा नाटक क्यों न लिखा जाय, जिसमें नाटककार के मुख्य और सुन्दर भावों का प्रदर्शन १२५ पृष्ठों से अधिक न हो।

हिन्दी नाटकों में संकेत शब्द बहुत ही कम लिखे जाते है। नाटक-

पारो मे यह रुचि नही है कि वे मच पर अपने विचारानुसार अभिनय करायें। वे तो अपने कार्य की इतिश्री वही समझते है जहाँ पात्रो के कथोपकथन मे अपने हृदय की सारी भावनाओं को भर दिया जाय। इसके बाद वे नाटक मे ऐसा हाथ सिकोड लेते है, मानो उनका उससे कोई सम्बन्ध ही नही। पाश्चात्य नाटको मे नाटककार अपनी इच्छा की चीजे मच पर उपस्थित करवा लेते है। वहा मच-सचालक को उनकी आज्ञा मे रहना पडता है। नाटककार अपने अक के समयानुकूल जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता मच पर समझते है उन सब चीजो का निर्देश कर देते है। वे सारी चीजे मचकर्ता को मच पर उपस्थित करनी पडती है। पाश्चात्य नाटककार सकेत लिखने मे पटु भी बहुत होते है। ब्यूला मेरी डिक्स ने अग्रेजी मे एक एकाकी नाटक लिखा है। उसका नाम है—एलीसन्स लैड (Alison's Lad)। उसका सकेत-चित्रण देखिये—

एलीसन का लड़का

दृश्य—इगलैड की पश्चिमीय मध्यभूमि मे फेरिंगफोर्ट गाँव।

काल—द्वितीय सिविल वार का अन्त, सन् १६४८ का शरत्काल।

हेमन्त की नीरस अर्द्धरात्रि, रिमझिम पानी बरस रहा है, फेरिंगफोर्ट की सराय के ऊपरी कमरे मे, जो धुधले प्रकाश और अग्निकुड (चूल्हे) की धीमी आँच से प्रकाशित है, केवेलियर पार्टी के पाँच सज्जन बैठे है। वे प्रातःकाल की भयावह लडाई मे कैदी बना लिये गये है।

अग्निकुड के निकट एक हाथदार कुर्सी पर मंच की बाई ओर उनका नेता सर विलियम स्ट्रिकलैड बैठा है। वह ऊचा, मध्यावस्था का उत्साही मनुष्य है और अपने दल का उत्कृष्ट नमूना है। वह साहसी

अफसर और उत्कृष्ट भावनाओं से युक्त सज्जन है। बगल में एक बहुत भयानक घाव है जो जल्दी से बाँध दिया गया है। वह अपनी आँखे बन्द कर भारीपन से अपनी कुर्सी पर लेट गया है। उसे पता ही नहीं कि उसके आसपास क्या हो रहा है।

उसका कप्तान और पुराना मित्र जार्ज बोथर अनुरागी और प्रचंड प्रकृति का मनुष्य है। उसकी आयु स्टि्रकलैंड की ही आयु के बराबर है। वह कमरे के बीचोंबीच बैठा है। यहाँ वह एक भद्दी-सी टेबल पर, जो मंच के दाहिनी ओर है, खेल देखता हुआ गंभीर भाव से एक बड़ा लंबा सिगरेट पी रहा है।

टेबिल के चारों ओर भद्दे स्टूलों पर गोरिंग, हाप्टन और विनवुड बैठे हुए पासे खेल रहे हैं। वे तमाखू भी पी रहे हैं। उनके कैदीपन में प्रसन्नता लाने के लिये उनके बीच में शराब का एक सागर रक्खा हुआ है। गोरिंग भाग्यवान, आत्मश्लाघी युवक सिपाही है। हाप्टन टेपल का एक सज्जन है जो सिपाही बन गया है। उसके हाव-भाव से अभी तक गुमाश्ता नज़र आता है। वह घायल है और उसके माथे में खून से रंगी पट्टी बंधी है। तीसरा खेलने वाला विनवुड १७ वर्ष का लड़का है। निखरा चेहरा, सुन्दर और वीरोचित चाल है।

यह ध्यान देने योग्य है कि ये लोग अनमने मन से बोल रहे हैं। वस्तुतः काली कोठरी में, आधी रात की भयानकता, पत्थर की खिड़की पर पानी की खटखटाहट, उनके सामने उनके कैदीपन की सन्दिग्धता आदि ने उनको इस विचित्र प्रश्न की ओर लगा दे कि प्रातःकाल उनका क्या होगा। गोरिंग, ये तीनों ने बहुत मजबूत और सिपाही हैं, पोसा

खेलने के साथ पहले बोलता है ।

इस संकेत-चित्रण से नाटककार ने वे सब बातें लिख दी हैं जो वह अपने अभिनय के लिये चाहता है, यहाँ तक कि पात्रों की आयु भी लिख दी है । अब संचालक का कर्तव्य है कि वह उल्लिखित आयु के ही पात्र चुने और जो-जो वस्तुएं नाटककार ने लिख दी हैं वे सब मंच पर इकट्ठी करे । जब नाटककार अपना नाटक मंच के लिये देता है तो उसे अधिकार है कि जो वातावरण या स्थिति वह चाहता है उन्हें मंच पर लाने की आज्ञा दे, किन्तु हिन्दी नाटककार कदाचित् बहुत संकोची हैं । वे मंच-कर्ता को कष्ट नहीं देना चाहते । वे अपना नाटक रंग-मंच में अभिनय करने के लिए दे देने पर बिल्कुल फुरसत पा जाते हैं । वे नाटक के विकास अथवा कला-रूप में तो पाश्चात्य नाटकों का अनुकरण करते हैं, पर संकेत-लेखन में कदाचित् झेंप जाते हैं । वे बेचारे मानो मंच-कर्ता के हाथों में अपने को और अपने नाटक को सौंपते हुए कहते हैं—"भाई, तुम्हें जैसे अच्छा लगे, वैसा ही कर लो ।" कैसा नम्र वाक्य उनके मुख से निकलता है ! यदि मैनेजर अच्छा हुआ तो उसने नाटक सम्हाल लिया और यदि नाटककार के दुर्भाग्य से खराब हुआ तो नाटक की असफलता का सारा दोष बेचारे नाटककार के सिर पर पड़ता है । इतने पर भी नाटककार चुपचाप रह कर संकेत-भाषा इस तरह लिखेंगे ।

(क) स्थान—तपोवन

[आस्तीक और मणिमाला का प्रवेश]

—जन्मेजय का नागयज्ञ

(ख) स्थान—स्वर्ग

(वीणापति मुनि का प्रवेश)

—कृष्णार्जुन युद्ध

(ग) स्थान—नगर के पास का भाग

(अस्त्रशस्त्र से सुसज्जित अपने दो बच्चों के साथ सुमति का प्रवेश)

—दुर्गावती

(घ) वलीद का दरबार, वलीद और मेर्वान बैठे हुए हैं।
रात का समय—

—कर्बला

हमारे हिन्दी नाटकों में भी संकेत-भाषा का उचित प्रयोग होना चाहिये और साथ ही नाटककारों में अपने नाटक को अपनी रुचि के अनुसार अभिनीत कराने की आकांक्षा उत्पन्न होनी चाहिये।

अब मैं हिन्दी नाटकों के 'स्वगत-कथन' पर विचार करना चाहता हूँ। हिन्दी नाटकों में यह 'स्वगत-कथन' का रोग बहुत पुराना है। न जाने कितने वर्षों से यह हिन्दी नाटकों में जोंक के समान आकर चिपट गया है। पाश्चात्य नाटकशाला में भी हम यही बात पाते हैं। शेक्सपियर के नाटकों में 'स्वगत कथन' की विशेष मात्रा है। सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में शेक्सपियर ने जो ट्वेलफ्थ नाइट (Twelfth Night) नाम का एक नाटक लिखा है, उसमें भी स्वगत-कथन पाया जाता है। प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य के अन्त में वायोला ड्यूक से कहती है—

वायोला—मैं तुम्हारी प्रियतमा को अनुरक्त करने की पूरी चेष्टा करूँगी। (अलग) आह, कैसा संघर्ष है—जिसके लिए मैं प्यार करूँ,

उसी की स्त्री तो मैं होना चाहती हूँ।

इसी प्रकार तृतीय अक के चतुर्थ दृश्य मे वायोला फिर स्वगत कहती है—

वायोला—(अलग)—ओ ईश्वर, मेरी रक्षा कर। थोडी सी बात ही मुझे यह बतलाने के लिए बाध्य करेगी कि मै पुरुषत्व से कितनी हीन हूँ।

जो हो, स्वगत-कथन हिन्दी नाटको की पैत्रिक सम्पत्ति रहने पर भी अब काम की चीज नहीं है। यह नितान्त अस्वाभाविक है कि कोई व्यक्ति अपने आप ही बोलता हुआ चला जाय। न उसके साथ आदमी है न वह स्वय आदमियो के साथ है, किन्तु वह जो मन मे आता है बोलता ही चला जाता है। ऐसी स्थिति मे या तो हम उसे पागल कहेंगे या शराबी या अफीमची। स्वगत-कथन तो विचारो का प्रकाश रूप है। पर स्वाभाविकता के लिए इसे दूर ही करना होगा। करुणा या क्रोध मे एक-आध वाक्य भले स्वगत-रूप मे हो पर उससे पृष्ठ के पृष्ठ नहीं रगे जा सकते।

बाबू जयशकरप्रसाद रचित 'जन्मेजय का नागयज्ञ' नाटक के प्रथम अक के पाचवें दृश्य मे तक्षक आता है। अब उसका स्वगत-कथन सुनिए—

"तक्षक—प्रतिहिंसे! तू क्यो हृदय को जला रही है? मै अपने शत्रुओ को सुखासन पर बैठे, साम्राज्य का खेल खेलते, देख रहा हूँ और स्वय दस्युओ के समान अपनी ही धरणी पर पैर रखते हुए भी काँप रहा हूँ। प्रलय की ज्वाला इस ककाल मे धधक उठती है! तू बलि चाहती है तो ले मै दूगा। छल, प्रवचना,

कपट, अत्याचार सब तेरे सहायक होंगे। हाहाकार, क्रन्दन और पीड़ा तेरी सहेलियाँ बनेंगी। रक्त-रंजित हाथों से तेरा अभिषेक होगा। शून्य गगन शवगंध-पूरित धूम से भरकर तेरा धूपदानी बनेगा। वञ्चक पुजारी होगा—कंटकासन पर बैठकर तेरी उपासना करेगा। ठहर, देवी ठहर !

(खड्ग निकालता है)

इसमें अकेले ही बोलनेवाले की उपहासावस्था हमारे बिना नहीं रहती। प्रसादजी की श्रीलेखनी से हम यह आशा नहीं रखते।

स्वगत-कथन का एक दूसरा प्रकार भी है। जब दो व्यक्तियों में वार्तालाप होता है तो एक व्यक्ति कुछ ऐसी बातें कहता है जो दूसरे व्यक्ति को तो वह नहीं सुनाना चाहता, किन्तु दर्शकों को बतलाना चाहता है। जब वह इतने जोर से बोलता है कि दर्शक-वृन्द उसे सुन लेते हैं पर पास ही खड़ा व्यक्ति नहीं सुन सकता तो इस असम्भव कल्पना से किसे हंसी न आयेगी ? यह कितना अस्वाभाविक है कि उसी बात को दस गज दूर बैठी हुई जनता सुन ले और मुश्किल से गज भर की दूरी पर खड़ा हुआ अन्य व्यक्ति न सुने। श्री बद्रीनाथभट्ट रचित "दुर्गावती" नाटक के पहले अंक के छठे दृश्य में सुमति के स्वगत कथन के पश्चात् सुमेरसिंह आता है। वह स्थल इस प्रकार है।

"सुमति—...... यों भटक रहे हैं।

(सुमेरसिंह का प्रवेश)

सुमेर०—(ध्यानपूर्वक देखता हुआ आप ही आप) यह कोई दुखिया क्षत्राणी दीखती है। देखूं, क्या कहती है।

(धीरे से पीछे हट कर छिप जाता है)

सुमति—नहीं, नहीं, यह मेरा ही दोष है, जो मैं अपने स्वार्थ के वश यों सोचती हूँ। आपने तो खूब सोच-विचार कर ही ऐसा किया होगा। स्वामी, आप सुन रहे हैं, पर दुःख के कारण जो कुछ मेरे मुंह से निकल गया, उसके लिए मैं क्षमा मांगती हूँ।

सुमेर०—(प्रकट होकर) अरी दुखिया, तू कौन है ? महारानी दुर्गावती के राम-राज्य में तुझपर कौन-सा संकट आ पड़ा, और किधर से ?"

—आदि

ऐसे स्वगत-कथन बहुत अस्वाभाविक जान पड़ते हैं। सुमेरसिंह के वाक्य "यह कोई दुखिया क्षत्राणी दीखती है। देखूं, क्या कहती है" दर्शकवृन्द तो सुन लेते हैं, पर सुमति जो दर्शकवृन्द से भी कम दूरी पर स्थित है, नहीं सुन सकती ! यह असंभव कल्पना है या नहीं ?

पाश्चात्य नाटककारों ने इस स्वगत-कथन के मिटाने की एक युक्ति सोच रखी है। उन्होंने एक नये विश्वासपात्र पात्र की अवतारणा की है। स्वगत-कथन कहने वाला जो कुछ भी कहना चाहता है वह उस विश्वासपात्र से कहता है। इससे वह "अस्वाभाविक प्रलाप" के दोष से बच जाता है। इस युक्ति से पात्र एक दूसरे से वार्तालाप करते हुए स्वगत-कथन से बच जाते हैं। हिन्दी नाटकों में भी इस दोष के दूर करने का उपाय सोचना चाहिये। या तो पाश्चात्य मंच के अनुसार एक नये पात्र की सृष्टि करनी चाहिये अथवा कोई ऐसी युक्ति निकालनी चाहिये जिससे पात्र का "प्रलाप" समुचित जान पड़े।

नाटकों में एक दोष और भी है। वह पद्य में बोलने का है। जिस

स्थान पर उत्साह, क्रोध, करुणा आदि का प्रदर्शन करना पड़ता है, उस स्थान पर नाटककार शीघ्र ही गद्य से पद्य मे लिखने लगता है। यदि नाटक जीवन की छाया है; उसके अंगो का प्रदर्शन है, तो उसमे जीवन का चित्र भी रहना चाहिये। हम कभी अपने जीवन के साधारण व्यवहार मे पद्य का प्रयोग नहीं करते। यदि ऐसा होता तो सारा ससार ही कवि बन जाता। साधारण बोल-चाल ही जब हमारे भावो को प्रदर्शित करने के लिये पर्याप्त है तो हमे उसमे पद्य लाने की आवश्यकता ही क्या है? यदि हम पद्य मे अपने दैनिक भावो का प्रदर्शन करे और अपने मित्र से, साधारण बोल-चाल मे, अपने सम्बन्धियों से साधारण व्यवहार मे—

"भूख लगी है, थाली लाओ,
अब न करो थोडी भी देर!"

कहे तो वे हसकर कहेगे — आप यह किस तरह कह रहे है! जो कुछ कहना चाहते है ठीक तरह से कहिये।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब नाटक मे हम अपने जीवन की घटनाए देखना चाहते है तो उसका चित्रण ठीक वैसा ही होना चाहिए जैसा साधारणतः होता है। किन्तु हिन्दी नाटको मे ऐसा नहीं किया जाता। उसमे जो स्थल शोक, क्रोध, चिन्ता, वीरत्व आदि के है उनमे पात्र गद्य कहते-कहते पद्य भी कहने लगते है।

श्री बद्रीनाथ भट्ट रचित "दुर्गावती" नाटक मे, पहले अंक के पहले दृश्य मे, पृथ्वीराज राठौर का प्रवेश होता है। अब उनकी "तकरीर" सुनिये—

(पृथ्वीराज राठौर का प्रवेश)

पृथ्वी०—(आप ही आप)आज तो जहाँपनाह की दशा विचित्र ही देखता हूं।

किस पर भला यों आज यह त्योरी चढ़ी है आपकी ?
क्यों, चोट किस पर होने वाली है तने इस चाप की ?
हो क्रुद्ध यों यमराज ने किस पर उठाया दंड है ?
किसका प्रचण्ड घमण्ड होने को अभी शत-खड है ?

तनिक पूछू तो। (अकबर से) श्रीमहाराज, शाहशाह आज जहाँपनाह को किस चिन्ता ने आ घेरा है जो—

अक०—(पृथ्वीराज की ओर देखकर) आओ पृथ्वीराज; आओ।

पृथ्वी०—जहाँपनाह—

क्रुद्ध हुए है भला, आज यों किस अत्याचारी पर आप ?
कौन मेटनेवाला है; खुद मिटकर दुनिया का सताप ?
भला कौन से पापी का अब घड़ा फूटनेवाला है ?
कौन शख्स है, जिसका यम से पाला पढ़ने वाला है ?
कौन मूर्ख है वह, सोते अजगर को जिसने छेड़ा है ?
गहरे सागर में क्यो, कौन डुवाता अपना वेड़ा है ?
सचमुच कोई करता होगा, दीन प्रजा पर अत्याचार ?
देने का जिसको कि दड करते है जहाँपनाह विचार।"

—इत्यादि

श्री प्रेमचन्द-रचित "कर्वला" मे तीसरे अक के छठे दृश्य मे जैनव कर्वला के मैदान मे हुसेन से कहती है—

"जैनव—हाय भैया ! यह मनहूस जगह है। मुझे लडकपन से

यहाँ की खबर है। हाय भैया ! इस जगह तुम मुझसे बिछुड जाओगे। मैं बैठी देखूँगी और तुम बरछियाँ खाओगे। मुझे मदीने भी न पहुचा सकोगे ! रसूल की औलाद नही तबाह होगी, उनकी नामूस यहाँ लुटेगी ? वाय तबदीह।

इस दश्त मे तुम मुझसे बिछुड जाओगे भाई।
गर खाक भी छानूँ तो ना हाथ आवेगा भाई॥
बहिनो को मदीने मे न पहुचाओगे भाई।
मै देखूँगी और बरछियाँ तुम खाओगे भाई॥
औलाद से बानू की यह छुटने की जगह है !
नामूस से नबी की यही लुटने की जगह है !!
(बेहोश हो जाती है। लोग पानी के छींटे देते हैं)"
"(मोर मुकुट मुरलीधर पुरुष का प्रवेश)

श्री माखनलाल चतुर्वेदी-रचित कृष्णार्जुन युद्ध मे भी इसी अस्वाभाविक पद्य-व्यवहार की भरमार है। प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य से कृष्ण का कारुणिक प्रलाप इस प्रकार है—

पुरुष—(स्वगत) कौन जानता है, वहाँ क्या होता होगा ? होता होगा स्मरण करते हुए हृदयो का सहार, मेरा मनन करते हुए अप्रिय व्यापार, और मेरे गुण गाते हुए वियोग से हाहाकार, और चढ़ता होगा मेरी मानसिक मूर्ति पर अश्रुओं का गद्‌गद् हार ! वृन्दावन, अहा ! वृन्दा—

वृन्दा, तुझ मे भरा हुआ है, मेरे बालकपन का रग।
लाड़ जसोदा मैया का वह, भैया बलदाऊ का सग॥

ग्वाल-बाल की सुखद मडली, गौवें, यमुना और निकुंज।
राधा-सह सखियों का आना, चन्द्र साथ ज्यों तारक पुंज ॥
ध्वनि मुरली की रास-रंग वह जल-क्रीडा-स्वच्छंद विहार।
कैसे भूल सकूंगा वृन्दा माखन-मिश्री का उपहार!
हाय, याद वह दुखदायी है, आज कन्हैया रोता है!
नन्दबबा जू मुझसे पूछो, बेटा कह क्या होता है!

उफ़ हृदय शान्त हो। आज कितने ही दिन बाद, मुझे यह स्मृति आई। इन आँसुओं से हृदय तृप्त हुआ। (ठहरकर) थोडी देर मुरली बजाऊ, मन का थकन मिटाऊ, पर कौन सुनेगा? मै तो हूँ, जी बहलाऊंगा—व्याकुल हृदय को समझाऊगा।

(कृष्ण का मुरली मे एक तान गाना)"

राधेश्यामी नाटकों मे तो पद्य का समुद्र उमडता है। वहाँ एक साँस मे गद्य है और दूसरी मे पद्य। पहले अंक के चौथे सीन मे हमीदा अकमलशाह से कहती है:—

हमीदा—क्यों? क्यों पसन्द नही है? बेटी क्या बाप की औलाद नही समझी जाती? बेटी को क्या बेटों की तरह से माँ दूध नही पिलाती?

आज होगी कारगर तालीम मुर्शिद आपकी।
मैं दिखा दूंगी कि क्या करती है बेटी बाप की॥

अकमलशाह—यह सब सच है। मगर लडकी, तू फिर भी लडकी है।

हमीदा—अगर लडकी का सवाल ही मेरे जोश और हौसले का हारिज है, तो लीजिये, मै आज से लडका हुई जाती हूँ।

मर्दाना लिबास पहनती हूँ और हमीदा से हमीद बनकर अपने बाप को छुड़ाने के वास्ते रवाना होती हूँ—

लड़की न समझिये इसे, है नाम की लड़की।
तोड़ेगी अभी कुफ्र को इसलाम की लड़की॥"

इत्यादि।

डी० एल० राय ने अपने नाटकों से इस पद्य-व्यवहार का बहिष्कार बड़ी अच्छी तरह से किया है। भावोन्माद के अवसर से भी, जब कोई हिन्दी-नाटक का पात्र बड़े जोर से भावोन्मेष मे चिल्लाने लगता है, डी० एल० राय के पात्र बड़ी सौम्यता से अपने विचार प्रकट करते है! शाहजहाँ नाटक के दूसरे अंक के पाँचवे दृश्य मे शायस्ताखा कहता है—

"हिन्दोस्तान के बादशाह गाजी आलमगीर।

(बुर्का डाले हुए जहानारा का प्रवेश)

जहा०—झूठ बात है! हिन्दोस्तान का बादशाह औरंगजेब नही है। हिन्दोस्तान के बादशाह शाहशाह शाहजहाँ हैं।

मीर-जुमला—कौन है यह औरत?

जहा०—कौन है यह औरत? यह औरत है, बादशाह शाहजहाँ की लड़की जहानारा।

(बुर्का उलट कर) क्यो औरंगजेब, तुम्हारा चेहरा यकायक जर्द क्यो पढ़ गया?

औरंगजेब—बहन, तुम यहाँ कहाँ?

जहा०—मैं यहाँ क्यो आई—यह बात औरंगजेब, आज इस तख्त पर मज़े से बैठ कर इन्सान की आवाज़ मे पूछने की ताब तुम मे है?

औरंगजेब, मै यहाँ आई हूँ बादशाह से बग़ावत करने के तुम्हारे जुर्म की नालिश करने।

औरंग०—किससे!

जहा०—खुदा से? खुदा नहीं है, यह तुमने सोच रक्खा है औरंगजेब?

औरंग०—मै यहाँ बैठकर उसी खुदा की फकीरी कर रहा हूँ।

जहा०—चुप रहो! खुदा का पाक नाम अपनी जबान से न लो। जबान जल जायगी। बिजली और तूफान, भूचाल और बाढ़, आग और मरी!—तुम लाखो बेगुनाह औरत-मर्दों के घर उड़ा-उड़ा कर, तोड-फोड कर, बहाकर, जलाकर तबाह करके चले जाते हो। सिर्फ ऐसे ही लोगो का कुछ नही कर सकते।

औरंग०—मुहम्मद! इस पागल औरत को यहाँ से ले जाओ। यह दरबार है, पागलखाना नहीं। मुहम्मद!

जहा०—देखूं, इस दरबार मे किसकी मजाल है कि बादशाह शाहजहाँ की लडकी के बदन मे हाथ लगाये। वह चाहे औरंगजेब का लडका हो चाहे खुद शैतान ही हो।

औरंग०—मुहम्मद! ले जाओ!

मुहम्मद—माफ कीजिये अब्बाजान। मेरी इतनी मजाल नही।

जसवन्त—बादशाहजादी से ऐसे बर्ताव को हम नही सह सकते।

और सब—कभी नहीं।

औरंग०—सच है! मै गुस्से मे कैसा अंधा हो गया था! अपनी बहन, बादशाह शाहजहाँ की बेटी से ऐसा बर्ताव करने का हुक्म दे रहा

था। बहन ! महल में जाओ। इस आम दरबार मे सैकडो बुरी नजरो के सामने खडा होना मुनासिब नही। बादशाह शाहजहाँ की लड़की को यह नही मोहता।"

हर्ष का विषय है कि श्रीजयशकरप्रसाद जी ने अपने नाटको मे पद्य का प्रयोग नही के बराबर किया है उन्होने इस अस्वाभाविकता को भली भाँति समझकर पद्य का प्रयोग प्रायः वही किया है जहाँ कोई प्रार्थना अथवा सगीत है। अजातशत्रु मे पद्य की कुछ भूलें अवश्य है। हिन्दी के अन्य नाट्यकारो को भी इस आदर्श-पथ का पथिक बनना चाहिये।

अब मुझे अभिनय के विषय मे कुछ कहना है। अभी तक हमारा रग-मच अच्छे अभिनेताओ से सूना है। उसका एक कारण है। भारतवर्ष का सभ्य-समाज मच को निकृष्ट स्थान समझता है और वहाँ उन्हीं लोगो की कल्पना करता है जो ज्ञान और मान से रहित है। एक धार्मिक कथा है, जो किसी समय 'कैलकटा रिव्यू' (Calcutta Review) मे प्रकाशित हुई थी। उसका सार यह है कि नाटक की प्रारम्भिक अवस्था मे गन्धर्वों और अप्सराओ ने किसी प्रहसन मे ऋषि-मुनियो का मजाक उडाया था। इस पर ऋषियो ने क्रोध मे आकर अभिनेताओ को शाप दिया कि तुम समाज मे अपमानित होकर नीची श्रेणी पाओ और शूद्रो के समकक्ष बने रहो। इसी कथा मे विश्वास रखकर शायद समाज अपने अच्छे अच्छे पुरुष-रत्न मच पर नही भेजना चाहता। किन्तु अब समय की गति बदल रही है। नाट्यकला का आदर चारो ओर हो रहा है। अभिनेताओ का सम्मान ससार मे आश्चर्य की वस्तु है। अभी उस दिन प्रसिद्ध हास्य-अभिनेता चार्ली चेपलिन

संसार के सबसे बडे आदमियो मे परिगणित किया गया था। ऐसी स्थिति मे जब ससार नाट्य और मच-कला मे आगे बढ़ रहा है, तब केवल हिन्दी-ससार ही क्यो पीछे रहे ? अब समाज को अपनी विचार-धारा दूसरी ओर मोड देनी चाहिए। उसे भी ससार के मच पर अपने कलाकार उत्कृष्ट अभिनेताओ को भेजना चाहिए। पाश्चात्य देशो ने तो इस कला को सिखलाने के लिये ट्रेडयूनियन की तरह सस्थाएं स्थापित कर ली हैं और बाज़ार के नियमो की भाँति जितनी अभिनेताओ की माँग होती है उतनी पूर्ति वे लोग करते है। ऐसा करने से इस व्यवसाय का महत्व कम नही होने पाता। हिन्दी मच मे भी जिस दिन इस प्रकार माँग की पूर्ति होगी वह दिन हिन्दी-मच की उन्नति का सच्चा दिन होगा।

हिन्दी-मच पर एक बात की और भी कमी है और वह यह कि स्त्रियां नाट्यकला मे भाग नही लेतीं। प्राचीन समय के नाटको मे स्त्रियाँ बराबर भाग लेतीं थीं। गन्धर्वो के साथ अप्सराए भी नृत्य और गान करती थीं, किन्तु इस समय मच पर पुरुष ही स्त्री का काम चला लेते है। वे ही स्त्री-रूप मे आकर भाव-भगियाँ दिखला कर अपने पुरुष-पन के प्याले मे स्त्री-पन की सुकुमार शराब भरते है। इसके दो कारण हैं। एक तो परदा और दूसरा शिक्षा का अभाव। ये दोनो बातें पाश्चात्य समाज मे नही है। अतएव वहाँ स्त्रिया स्वतत्रा-पूर्वक रग-मच पर आती है। हमे आशा है कि वह दिन शीघ्र ही आयेगा, जब स्त्रियाँ भी अपनी सुकुमार-कला से हिन्दी-रग-मच को गौरवान्वित करेगी।

रग-मच का सबन्ध आधुनिक चित्रपट से बहुत निकट हो गया है अतः उस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

इस सभ्यता और सस्कृति के युग मे हिन्दी रग-मच का अस्तित्व ही नही, हिन्दी वालो के लिए इससे अधिक अपमान की बात क्या होगी ! हिन्दी नाटको का प्रणयन रगमच की दृष्टि से भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने किया था और सन् १८६८ मे उन्होने विद्यासुन्दर की रचना की थी, किन्तु वह भी बगला के उसी नाम के नाटक का ही अनुवाद था। आगे चल कर उन्होने सत्य-हरिश्चन्द्र की रचना की थी, जो काशी मे खेला भी गया था और स्वय बाबू हरिश्चन्द्र ने हरिश्चन्द्र का अभिनय किया था। इस प्रकार भारतेन्दु जी ने नाटको का सूत्रपात हिन्दी मे किया था। यद्यपि उनके नाटक आजकल के नाटक-नियमो की कसौटी पर कसे नही जा सकते। जो हो, उस समय हमारा रगमच विकृत रूप मे तैयार होने जा रहा था। भारतेन्दु जी के बाद राधाकृष्णदास ने महाराणा प्रताप अथवा राजस्थान-केसरी की रचना भी नाटकीय तत्वो को दृष्टि मे रखकर की थी। उनके बाद अन्य लेखको ने भी इसी दिशा मे प्रयत्न किया था पर उनके नाटक रगमच पर ठीक-ठीक उतर नही सके। इसका कारण यही था कि हमारे हिन्दी-लेखको मे नाटक-रचना के विषय मे भारतेन्दु जी के समान लगन नही थी और न उनके सामने हिन्दी रगमच का रूप ही तैयार था। जब लेखक स्वय रगमच के स्वरूप से अपरिचित है तो उसके नाटको का रगमच पर सफलता के साथ कैसे अभिनय किया जा सकता है, यह विचारणीय है। बीसवी शताब्दी के आरम्भ से अब तक और भी अनेक विद्वान लेखको ने भावपूर्ण सुन्दर नाटको की रचना की है, पर उनके अनुशीलन से यही विदित होता है कि इन लेखको ने रगमच की आवश्यकताओ की तरफ बहुत कम ध्यान

दिया है। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ हमारे यहाँ के नाटककार अपने यहाँ रंगमंच की सृष्टि करने मे उत्सुक नही जान पड़ते और न वे रंगमंच के विशेषज्ञ ही होना चाहते हैं। उनके नाटक साहित्यिक दृष्टि से बहुत सुन्दर है, भावनाओ के घात-प्रतिघात के मनोहर चित्र है, पर अभिनय से बहुत दूर। इलाहाबाद यूनीवर्सिटी के शिक्षित छात्रो ने ऐसे नाटको को सफलतापूर्वक अभिनय करने मे कितना परिश्रम उठाया है, यह वही जान सकता है जिसने पहले नाटक पढ़ कर अभिनय देखा है अथवा जिन्होने स्वय अभिनय मे भाग लिया है। इन नाटको को देखना भी दर्शको के लिए किसी नीरस क्लास मे बैठने के दड से कम नही था—इसलिए कि दर्शको की रुचि अभी रंगमंच के साथ साहित्यिक सौन्दर्य देखने की नही है। वे अल्फ्रेड थियेट्रिकल कपनी अथवा कोरिन्थियन कपनी मे पर्दो के फटने तथा असम्भव वस्तुओ को सम्भव होते हुए देखने के लिए विशेष उत्सुक है। वे रंगमच पर तमाशा देखना चाहते है। हमारी रुचि बिगाड़ने का सारा भार इन पारसी कपनियो के सिर हर रखा जा सकता है, जिन्होने अपने व्यवसाय के सामने हमारे यहाँ के रंगमच की वास्तविक सृष्टि होने का अवसर ही नही आने दिया।

जब हमारे पास न अपना रंगमच है और न दर्शको की रुचि मे ही संस्कृति है, उस समय हमारे सामने चित्रपट किसी तूफान की तरह आता है। जनता की आँखो मे इस चल-चित्र का नशा छा जाता है और वे नाटकघरो मे न जाकर सिनेमा-घरो की ओर अपने पैर बढ़ा देते है। हमारी जनता तो मनोरजन चाहती है, उसके साथ जीवन के आदर्श नही। इस रुचि की थाह पाकर बहुत सी कपनियाँ ऐसे चित्रपट बनाने

से प्रवृत्त होती है, जिनसे केवल मनोरंजन-प्रिय जनता की इच्छापूर्ति होती है। इन परिस्थितियो मे हमारे चित्रपट पारसी थियेटरो के अनुवाद हो जाते है और उनमे वही असम्भव बाते दिखलाई जाती हैं, जो थियेटरों की प्रिय घटनाए हैं। इस प्रकार चित्रपटो ने थियेटरो के पदों का अनुसरण कर हमारी जनता की रुचि और भी निकृष्ट कर दी और उन्हे अधिक विलासी बना दिया है। यह सक्षेप मे हमारे अधिकाश चित्रपटो का परिचय है।

रगमच के इतिहास मे चित्रपट का महत्वपूर्ण स्थान है। यदि हम चित्रपट को रगमच का अमर रूप कहे तो अतिशयोक्ति नही होगी। रगमच पर जो दृश्य दिखलाये जा सकते है, वे अपना अस्तित्व परिमित समय अथवा निश्चित स्थान तक ही रख सकते है। पात्र भी एक ही प्रकार का अभिनय सदैव नही कर सकते। किन्तु चित्रपट एक बार किये गये दृश्यो को भविष्य के लिए भी सुरक्षित रख सकता है। पात्रों के एक बार के अभिनय को सौ बार उसी भाँति दिखला सकता है। अतएव चित्रपट रगमंच के पात्रो एव कार्यो को अमरत्व प्रदान कर देता है। आज सर्वश्रेष्ठ सुन्दर नट 'रुडोल्फ़ वैलटिनो' जीवित नही है, किन्तु 'ब्लैक ईगल' मे हम अब भी उसका अभिनय देख सकते है। उसको जीविता-वस्था से देख कर प्रसन्न हो सकते है और कुछ क्षणो के लिए हम वैलटिनो के साथ इस प्रकार मनोरजन मे मस्त हो जाते है जैसे दुनियाँ अब भी उसी प्रकार है और वैलंटिनो अब भी जीवित है।

इस परिस्थिति मे चित्रपट का मूल्य रंगमच से बहुत अधिक हो जाता है। चित्रपट एक अमर सन्देश वहन कर सकता है, जो युग-युगान्तर

तक हमे हमारी परिस्थितियो से परिचित करा सकता है। प्रत्येक समय वह हमारे हृदय मे नव-जीवन सचार कर सकता है और हमे उन्नति की ओर अग्रसर होने के लिए वाध्य कर सकता है। चित्रपट का महत्व कितना अधिक हो जाता है, जब हम यह सोचते है कि मनोरंजन के साथ उपदेश देने की क्षमता चित्रपट ही मे है। माता यदि अपने बच्चे से सच बोलने के लिए कहे तो शायद बच्चा यह बात न माने। किन्तु यदि माँ मिठाई देते हुए कहे—'बच्चे, यह मिठाई लो और सच बोलो' तो बच्चा दौड कर मिठाई लेते हुए कहेगा—'माँ, अब मै झूठ क्यो बोलूंगा ?' चित्रपट की शक्ति यही मिठाई वाली माँ है जो हमे सच बोलने के लिए वाध्य कर सकती है। उपदेश की नीरसता चित्रपट में सरसता बन जाती है और हमारी भावनाए अपनी शक्ति से उठकर सच्चे पथ की ओर अग्रसर हो जाती है। मनोरजन वह पारस है, जिससे उपदेश का लोहा सोना बनाया जा सकता है।

रंगमच से चित्रपट मे एक और विशेषता है। रगमच मे स्थान की सकीर्णता और पात्रो के कार्य करने की अस्वच्छन्दता, दूरी दिखलाने की असमर्थता, स्थल-परिवर्तन की अस्वाभाविकता बनी रहती है। चित्रपट इन सब अभावो के हटा देने मे समर्थ हो गया है। स्थान की विभिन्नता, मीलो फैले हुए मनोहर दृश्य, एक हजार फ़ीट उड़ते हुए वायुयानो से दीखने वाले नीचे के स्थल, पात्रो के कार्य-क्षेत्र की पूर्ण स्वच्छन्दता और कार्य-सपादन की स्वाभाविकता चित्रपट मे जीवन का आभास ला देती है। इसी जीवन के आभास मे मन इस प्रकार भूल जाता है जैसे वह स्वय उसी कार्य मे व्यस्त हो। उसके साथ जीवन

नाचता हुआ आता है और उसे छूकर भाग जाता है। वह उस समय इतना लीन हो जाता है मानो वह अपने ही जीवन की कोई घटना देख रहा हो और उसमे वह स्वयं एक आवश्यक व्यक्ति हो। मनुष्य इस समय अपने को भूला रहता है और यही समय है जब उसके हृदय मे कोई बात उठाई जा सकती है। उपदेशक को तो पहले श्रोता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अथक परिश्रम करना पडता है। जब श्रोता उपदेशक मे विश्वास रख उसकी बात सुनने के लिए तत्पर हो जाता है तब कही उपदेशक के लिए यह अवसर आता है कि वह अपने विचार उसके हृदय तक पहुचावे। चित्रपट को तो मनुष्य का हृदय आकर्षित करने मे कुछ परिश्रम ही नही पडता। मनुष्य तो मन्त्र-मुग्ध (hypnotised) से ही हो जाते है और इसी अवस्था मे उन पर अधिक से अधिक प्रभाव डाला जा सकता है।

इन सब बातो को ध्यानपूर्वक समझने से हमे ज्ञात हो जाता है कि चित्रपट-निर्माता का कर्तव्य कितना कठिन है। किन्तु हम देखते है कि भारतवर्ष में चित्रपट के संचालको के हृदय में अपने कर्तव्य के लिए अणुमात्र भी ध्यान नही है। वे आदर्शो और शिक्षा के कायल नहीं हैं। वे चित्रपट के निर्माण करने मे केवल इसी का ध्यान रखते है कि अमुक चित्रपट से वे साधारण जनता की वासनामयी प्रवृत्ति को गुदगुदा कर उनसे कितना रुपया वसूल कर सकते हैं। इसीलिये वे सदैव ऐसी कहानी चाहते हैं जो साधारण दर्शको की रुचि को अपनी ओर आकर्षित कर सके। दुर्भाग्य से भारतीय जनता की रुचि अभी इतनी परिष्कृत नही हुई है कि वह सारहीन वासना के उद्दाम वेग से कलुषित चित्रपट का बहिष्कार

कर सकें। इस कमजोरी का अनुचित लाभ उठाकर चित्रपट-निर्माता धन-कुबेर बनना चाहते है। उनसे राष्ट्र अथवा जातिगौरव के ध्यान की आशा रखना मृग-जल से पानी की आशा रखने के समान है। उनकी इन कुरुचिपूर्ण नीति का एक कारण और हो सकता है और वह यह कि उन्हे एक चित्रपट पर कई हजार रुपये खर्च करने पडते हैं। अतएव वे अपने चित्रपट को उसी विषय के रग मे रगेंगे जो विषय जनता की रुचि के अनुकूल सिद्ध हो चुका है और जिसके कारण उन्हें अपना धन वापिस मिल जाने की आशा है। धन खो जाने की आशका से वे (जनता की रुचि को जानते हुए भी) अपने चित्रपट को किसी नये विषय के प्रयोग का साधन नही बनावेगे। यदि विषय जनता की रुचि के अनुकूल न हुआ तो फिल्म किसी भी सिनेमागृह मे तीन दिन से अधिक चल ही नही सकती और दर्शकों की सख्या भी उजड़ते हुए वसन्त के फूलो के समान ही इधर-उधर न्यून सख्या मे होगी। यही कारण है कि वे अपने चित्रपट का वही विषय रखेंगे जिसके बारे मे यह निश्चय हो जायगा कि यह विषय चल निकलेगा। पाश्चात्य निर्माताओ के समान वे मनोवेगो के विविध रूपो के अध्ययन करने का न तो प्रयत्न ही करते है और न यही चाहते है कि उनके चित्रपट के लेखक मनोविज्ञान के विशेषज्ञ या उच्च श्रेणी के उपन्यासकार या कहानी-लेखक हो। वे तो सस्ती कहानी चाहते हैं। यह स्वार्थान्धता वास्तव मे अक्षम्य है। वे यह नही जानते कि जनता की रुचि और चरित्र को बिगाडने या सुधारने की कितनी बडी जिम्मेदारी उनके हाथो मे है। जनता की रुचि और चरित्र क्या है ? राष्ट्र के भाग्य-निर्माण अथवा उसके कारुणिक पतन की

आधारभूत शक्ति। यदि इसी शक्ति की उपेक्षा कर दी गई तो फिर जातीय जीवन का विषय भविष्य मे बहुत अनिश्चित हो सकता है किन्तु इस महत्वपूर्ण दृष्टिकोण से सम्भवतः कोई चित्रपट-निर्माता अपने चित्रपट को नही देखता। यह भयानक भूल जो सहस्त्रो व्यक्तियों के जीवन का तराजू के काटे के समान अनिश्चित दिशा की ओर उन्मुख कर सकती है, चित्रपट-निर्माताओ के मनोरंजन की सामग्री है। यह कितने क्षोभ की बात है।

चित्रपट निर्माण करने मे लेखको की ओर भी डायरेक्टरो को ध्यान देना उचित है। पाश्चात्य देशो मे लेखको को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। वहाँ तो चित्रपट के लिए साधारण कहानी-लेखको को २०० पाउण्ड मिल जाते है। ब्रिटिश इटरनेशनल पिक्चर्स (British International Pictures) तो लेखको और अभिनायको का एक ही प्रकार से सम्मान करता है। हाँ, एक बात अवश्य है। डायरेक्टर अपने चित्रपट को अधिक नाट्यमय (Dramatic) बनाने के लिए कहानी मे बहुत कुछ परिवर्तन कर देता है। फिर उसे साहित्यिक सौन्दर्य की परवा नही रहती। उसे यह चिन्ता होती है कि कहानी को किस प्रकार मोड दे कि वह दर्शको की आँखो मे और भी अधिक कौतूहलजनक बन जाये। उस समय उसे कहानी-लेखक की आत्मा पर प्रहार करते समय किंचित भी दुःख नही होता। जब कहानी-लेखक अपनी कहानी की फ़िल्म देखता है तो उसे आश्चर्य हो जाता है कि "ओः मैने तो इस पात्र मे ऐसा काम करने की व्यवस्था ही नही की, यह कैसे हो गया?" ऐसी परि-स्थिति बड़ी भयानक होती है। यदि इस प्रकार के परिवर्तन से चित्रपट

सफल हो गया तो लेखक का यश अनेक गुणा बढ़ जाता है और वह अयोग्य होने पर भी अन्य कम्पनी-डायरेक्टरों की दृष्टि में ऊंचा उठ जाता है। और यदि चित्रपट असफल हो गया तो उसका सुयोग्य लेखक भी अपना अर्जित यश खो बैठता है और फिर उसका भविष्य अन्धकार-मय हो जाता है। डायरेक्टरों की यह परिवर्तन-प्रियता लेखकों के भविष्य जीवन की खिलवाड़ ही समझी जानी चाहिए। उनके व्यवसाय की संकुचित दृष्टि लेखकों की शक्ति का असत्य प्रचार कर सकती है। हाल ही में एक प्रसिद्ध फिल्म कम्पनी के एक फिल्म के निर्माण में यही बात हुई। डायरेक्टर ने अपने मन के अनुसार कहानी और वार्तालाप में परिवर्तन किए, जिस पर बेचारे लेखक का कुछ भी अधिकार नहीं था। उसमें कुछ ऐसे असामयिक और असगत गाने रखे गये जिनके विषय में लेखक को हस्तक्षेप करने का साहस ही नहीं था। वे गाने चाहे साधारण जनता की रुचि के अनुकूल भले ही हों, पर वे न तो सुरुचिपूर्ण ही थे और न सामयिक ही। इसी सम्बन्ध में लेखक ने एक पत्र दिल्ली से प्रकाशित होने वाले 'चित्रपट' के १ सितम्बर १९३३ के १४ वें अंक में प्रकाशित कराया है।

यह है लेखक की स्थिति। वह अपने अधिकारों के लिए लड़ भी नहीं सकता। इगलैंड में लेखकों का स्वाभिमान कितना अधिक है! जान गाल्सवर्दी के 'लायल्टीज' का चित्रपट बहुत वर्षों से स्थगित कर दिया गया है, क्योंकि उन्होंने एक अमेरिकन फर्म को, जिसने उस कृति को चित्रपट के लिए लिया है, फरडिनेड डि लेविस को एक जैनटील बनाने से मना कर दिया है और सम्भवतः उसी प्रकार चित्रित की जावेगी जिस

प्रकार कि वह लिखी गई है। उसी प्रकार शॉ भी अपने नाटकों मे परिवर्तन नहीं होने देंगे। एच० जी० वेल्स ने एक प्रतिन्यास लिखा था और यद्यपि वह स्पष्टतः अच्छा नहीं था, तथापि परिवर्तन न करने के सिद्धान्त पर उसके चित्रपट की स्वीकृति नहीं दी। उसका अभी तक चित्रपट नहीं बन सका और वह वेल्स का लेखकों के प्रति उचित व्यवहार दिलाने की धारणा का स्मृति-चिन्ह है।

लेखक की लेखनी भी साहित्य और देश की अनेक समस्याओं के हल करने का भार वहन करती है! वर्तमान लेखक-समुदाय अंग्रेजी चित्रपटों के चरित्रों की चोरी कर अपनी कहानी का निर्माण करते है अथवा लैला-मजनू, शीरीं-फरहाद, गुल-बकावली जैसी बासी और पुरानी कहानियों को फिर से जनता के सामने लाना चाहते है, जिनसे देश और समाज का एक इञ्च भर भी लाभ नहीं हो सकता। नवयुग और देश के भावी स्वर्णयुग मे इस वासनात्मक 'इश्क' की क्या जरुरत है, यह उनका हृदय जाने। अधिक से अधिक किसी पौराणिक कथा का चित्रण कर दिया जाता है, जिस मे धर्म की अन्धी भावना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रहता। इससे कूपमण्डूकवत् जनता के हृदय मे भले ही कुछ क्षण के लिए सजीवता आ जावे, किन्तु इससे नवयुग के निर्माण मे सहायता नहीं मिल सकती। हम तो अपने लेखकों से यह आशा रखते है कि वे भारतीय मनोवृत्ति का ऐसा सुन्दर चित्र हमारे सामने रखे, जिसमे भारत के प्रत्येक व्यक्ति मे जीवन आ जावे—ऐसा जीवन नहीं जो क्षणिक हो, पर ऐसा, जिसमे क्रियात्मक शक्ति का आविर्भाव हो। धार्मिक अन्ध-परपरा को त्याग कर लेखकों की लेखनियाँ वास्तविक जीवन के संघर्ष को चित्रित

करे। गरीबों की भूखी आत्माओं मे उतर आवे और विलासमय जीवन मे क्रान्ति उत्पन्न कर दे। हमारे नेत्रो के सामने ऐसी समस्याए आ जावे जिन्हें हल करने के लिए हम अपने जीवन का उत्सर्ग कर दें। ऐसे चित्रो का निर्माण हो जिनमे भारतवर्ष का गौरव ससार-प्रसिद्ध हो जावे—भारतवर्ष का भी नाम प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति के मुख पर हो। चाहे ससार हमे पराधीन जाति देखे, किन्तु वह इसका अनुभव अवश्य कर ले कि हममे जीवन है और अनुचित जीवन के विरुद्ध लोहा लेने की ताकत है! वास्तव मे सच्चे चित्रपट वे ही है जो वास्तविक जीवन मे उठने वाली समस्याओं के प्रश्नो का उत्तर देते है।

इसके बाद अभिनेता की जिम्मेदारी है। अभिनेताओं को सर्वप्रथम अपने को भारतीय सस्कृति का एक अभिभावक समझकर रगमच पर उतरना चाहिए। चित्रपट का मुख्य विषय प्राय: प्रेम-कथाओं से ही सम्बन्ध रखता है। इसीलिए अभिनेताओं को आलिगन और चुबन की बान सी पडी रहती है। बालको अथवा युवको पर इसका क्या प्रभाव पड सकता है, यह बतलाने की आवश्यकता नही। यही कारण है कि नायको की इस उच्छृखलता ने सभ्रान्त घर की स्त्रियो को रग-मच पर आने से रोक रक्खा है। अजटा के चित्रपट अफजल के पुनर्चित्रण का रहस्य इस घटना मे निहित है। जैसे ही कोई उच्चशिक्षित सभ्रान्त महिला इस वातावरण को देखती है, वह निराश होकर रग मच को ठोकर मार कर चली जाती है।

अभिनेता मे सर्वप्रथम तो स्वाभाविकता होनी चाहिए। उसका अभिनय स्वभावानुकूल तथा सयत हो। हाथ-पैर फैकने की अपेक्षा

उसके मुख पर भावाकृति का प्रदर्शन अधिक अपेक्षित है। हमारे यहाँ के अभिनेता या तो पाश्चात्य अभिनेताओं की नकल करते हैं अथवा रंगमंच पर आवश्यकता से अधिक उछल-कूद मचाते हैं। एक पात्र का दस आदमियों से भिड़ जाना और उन सब को पीट कर साफ निकल जाना अथवा बिना मतलब के दस फीट ऊपर कूद जाना और अनेक तरह की कलाबाजियाँ दिखलाना—इस प्रकार की अस्वाभाविक बातों से जनता का मनोरंजन किया जाता है। डगलस फेयर बैंक्स ने 'थीफ ऑफ बगदाद' में इस तरह का खेल कभी दिखलाया था, बस एक बार ही उसकी नकल हिन्दुस्तान में की जाने लगी। अधिकांश चित्रपटों में 'दि थीफ आफ बगदाद' की छाया आ गई और मास्टर विट्ठल इण्डियन डगलस के नाम से पुकारे जाने लगे। यह हमारी मौलिकता का नमूना है।

हमारे अभिनेताओं को गाने का बड़ा शौक है। बात-बात पर गाते हैं। बात-चीत के दो मिनट भी शायद उन्हें कठिन जान पड़ते हैं। दो पात्र बातचीत कर रहे हैं। कुछ बात होने पर एक ने स्वर छेड़ा तो दूसरा कब चुप रह सकता है। उसने भी गाना समाप्त होते ही अपना गाना प्रारम्भ कर दिया। और गाने भी 'साँवलिया' 'तिरछी नजरिया' वाले ढंग के। 'सती अनुसूया' चित्रपट इसका साक्षी है। 'अयोध्या का राजा' (King of Ayodhya) में राजा भी अपने मुसाहबों के बीच में गाने लगता है। मानो राजा की अपनी कोई मर्यादा ही नहीं है। शायद अभिनेता समझते हैं कि जनता गाना ही माँगती है। गाना, गाना, गाना। हर्ष की बात है कि अब यह प्रवृत्ति कम हो रही है।

हमारे अभिनेता चित्रपट के लिए क्या तैयारी करते है ? प्रसिद्ध हास्य-रसाभिनेता चैपलिन के विषय मे प्रसिद्ध है कि वह यह निश्चित करने के पूर्व कि उसका चित्रपट किस विषय का होगा, पहले सारे ससार मे एक वर्ष तक घूम लेगा। हमारे यहा इतना बडा अभिनेता न तो है ही और न कोई कपनी अपने अभिनेता को इतनी स्वतन्त्रता ही दे सकती है। किन्तु तो भी अभिनेता का कार्य इतना सरल नही है जितना कि हमारे यहा के अभिनेताओं ने समझ रक्खा है। एक तो लेखक की मनोवेगो के क्षेत्र मे अनुभव-हीनता और दूसरे चित्रपट-निर्माताओं की व्यावसायिक दृष्टि ने अभिनेताओं को भी अकर्मण्य बना रक्खा है। किसी विशेष परिस्थिति मे हृदय की क्या दशा होती है, प्रेम घृणा मे कैसे परिवर्तित होता है। प्रसन्नता मे उदासी किस प्रकार छा जाती है, युद्ध मे स्त्री की भावना से कैसे शिथिलता आती है। इनके अध्ययन तथा भावभंगी की न्यूनता ने हमारे चित्रपट को स्वाभाविकता से बहुत दूर फैक दिया है। हमारे चित्रपट जीवन के चित्र नही, वे है हमे हसाने अथवा बहलाने के लिए चलने-फिरते तमाशे।

अब हम चित्रपट के भविष्य के विषय मे कुछ अपेक्षित बातो का निर्देश करेगे। चित्रपट का पहला कार्य तो यह होना चाहिए कि वह देश मे ऐक्य की भावना का प्रचार करे। जितनी भी जातियॉ अथवा सप्रदाय देश मे है, उनमे सगठन का सूत्रपात करे। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का बीज कही भी अकुरित न होने पावे, प्रत्युत इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न की जाये कि हिन्दू और मुसलमान पारस्परिक सहायता करते हुए अपने स्वार्थो का बलिदान कर सकते है। इसी भावना से देश

से ऐक्य का प्रचार हो सकता है और चित्रपटों से इसका प्रचार जिस सुगमता से हो सकता है उतना अन्य किसी साधन से नहीं।

चित्रपट के द्वारा हिन्दी भाषा का प्रचार देश के कोने-कोने में हो सकता है और इसी साधन से हिन्दी सरलतापूर्वक राष्ट्रभाषा हो सकती है। दुःख है कि चित्रपटों में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है वह न तो हिन्दी ही है और न उर्दू ही। जहाँ हिन्दी भाषा का प्रयोग किया जाता है वहा उच्चारण की इतनी भूलें होती हैं कि उन्हें सुनकर हंसी आती है। 'प्रणाम' का 'परणाम', 'प्रचार' का 'परचार' तो साधारण दोष है, पर जहाँ 'ब्रह्म' का 'भ्रम' हो जाता है वहाँ हिन्दी की क्या दशा हो जाती है। यह आवश्यकता नहीं है कि साहित्यिक हिन्दी का प्रयोग ही वार्तालाप में किया जाय, स्वाभाविक रूप से हिन्दुस्तानी या सरल हिन्दी का प्रयोग समीचीन होगा। पर यह निश्चय है कि यदि चित्रपट हिन्दी भाषा के प्रश्न को अपने हाथ में ले और उसका शुद्ध रूप में प्रचार करे तो राष्ट्रभाषा का प्रश्न सहज ही में हल हो सकता है।

चित्रपट के द्वारा हम अपने संगीत और नृत्य को पुनर्जीवित कर सकते हैं। गान और नृत्य में हमारे यहा जो कला है वह संसार को मुग्ध कर सकती है। श्रीमती रागिनी देवी और उदयशंकर ने इस सत्य को प्रमाणित कर दिया है। दुर्भाग्य से गान और नृत्य का सम्बन्ध हमारे यहा सुशिक्षित समाज से टूट गया है और वह समाज के किसी अपवित्र कोने में ही केन्द्रित हो गया है। अपनी उस उच्च कला में फिर से प्रवीणता पाना अब हम लोगों का कर्तव्य है। चित्रपट में उच्चकोटि के गान और कलायुक्त नृत्य की सृष्टि कर हम अपने समाज का ध्यान इस ओर फिर आकर्षित कर सकते हैं।

चित्रपट के द्वारा हम भारत का सच्चा चित्र खींच कर जनता के सामने रख सकते हैं। ग्राम्य-जीवन की कठिनाइयां, गरीबों की उदर-ज्वाला, किसानों की असहायता, धनियों का अत्याचार, विधवाओं की करुणामय दिनचर्या, वृद्धों का वासनामय विलास, यह सब हम दो घंटे में जनता के हृदय तक पहुंचा सकते हैं। जनता समझ जाय कि देश किस ओर जा रहा है, गांवों को हम किस प्रकार सुधार सकते हैं, हरिजनों को हम कैसे सुखी कर सकते हैं, आदि-आदि। देश को एक बार फिर से अपना गृह-प्रबन्ध करने की आवश्यकता है और यह चित्रपट द्वारा बहुत सुगम है।

चित्रपट-निर्माताओं ने हमारे यहां के उपन्यासकारों और कहानी-लेखकों को अभी तक बड़ी उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। उन्होंने हमारे कलाकारों को इस योग्य समझा ही नहीं कि वे भी चित्रपट के योग्य हैं। इसीलिए हमारे चित्रपट से हमें कोई जीवन का अच्छा चित्र देखने को नहीं मिलता। हर्ष की बात है कि इस क्षेत्र में भी अब आशा का प्रभात उदय हो रहा है।

———

कविता का जन्म



कविता कैसे लिखी जाती है ? यह प्रश्न कवि के लिए जितना विचित्र है, आलोचक या पाठक के लिए उतना ही कौतूहल-जनक। प्रश्न करने पर कवि कह देगा कि मैं कैसे कहूँ कि मैं कविता किस प्रकार लिखता हूँ। विचार उठते हैं, मैं उन्हें रोक नहीं सकता और कभी टहलते हुए, कभी बिस्तर पर लेटे हुए, शाम की धुंधली छाया में या उषा के खिलते प्रकाश में कुछ गुनगुनाता हूँ और कविता, जिसे आप श्रेष्ठ कविता कहते हैं, अपना रूप निर्माण कर लेती है। पाठक या आलोचक आश्चर्य में पड़ जाता है। वह कहता है : यह हो कैसे सकता है! इतने सुन्दर विचार, ऐसी अमर कल्पनाएं, ये स्मरणीय सूक्तियाँ इतनी आसानी से लिख कैसे जाती हैं! कवि को न जाने कितना सोचना पड़ता होगा या उसकी साधना कितनी गहरी होगी! वह न जाने किस लोक में विचरण करता होगा, तभी तो वह भाषा को छूता है और भाषा कंचन बन जाती है। और वह अपनी समस्त कुतूहलता अपने प्रश्न में भरकर पूछता है—कविता का जन्म कैसे होता है ? ऐसा ही प्रश्न आज मेरे सामने है।

मैं सोचता हूँ : इस प्रश्न का उत्तर किस प्रकार दूं। आप चाहते हैं कवि आलोचक बन जाय और अपने मुख को शीशे में देखकर अपने नाक-नक्शे का वर्णन स्वयं करे, लेकिन वह अच्छे और बुरे का मापदंड कैसे निर्धारित करे ? हिन्दी साहित्य में तुलसीदासजी ही को लीजिए।

उनकी कविता विश्व का शृंगार है, वे महाकवि हैं लेकिन जब उनकी कविता के संबध में निर्देश आता है तो वे कहते हैं :—

कवित विवेक एक नहि मोरे, सत्य कहौ लिखि कागद कोरे।

तुलसीदास ने यह केवल मात्र नम्रतावश ही कहा हो ऐसी बात नहीं है क्योंकि यदि आप उनकी 'विनयपत्रिका' और 'कवितावली' का उत्तर-काड पढ़े तो ज्ञात हो जायगा कि वे अपने विषय मे कितनी सच्चाई और आत्मीयता के साथ अपने जीवन की समस्याओ पर प्रकाश डालते है या आत्मनिन्दा के कितने स्पष्ट भाव व्यक्त करते है। कवि के दृष्टिकोण से उसकी कविता क्या है और संसार उसका क्या मूल्य समझता है, यह तुलसीदासजी की कविता को देखने से स्पष्ट ही ज्ञात हो सकेगा। यों तो ससार मे अनेक कवि ऐसे भी है जो अपने को महाकवियो की श्रेणी मे रखते हुए अपनी महानता की घोषणा करते है और जो उनकी सराहना नहीं करते वे मनुष्यता की श्रेणी से भी नीचे गिरा दिए जाते है।

कविता के इतिहास मे प्रथम कविता महर्षि वाल्मीकि के कंठ से क्रौंचवध के विषाद से नेत्र की अश्रुधारा के साथ निकली कही जाती है, किन्तु ससार मे कविता की सृष्टि उस समय से आरभ हो गई होगी जब करुणा, आकर्षण और आत्म-समपर्ण की तीनो भावनाओ ने कवि के हृदय मे एक ऐसी विह्वलता भर दी होगी जिसे वह अपने हृदय मे सभाल नहीं सका होगा और ये तीनो भावनाएं त्रिवेणी की भाति एक होकर भाषा के पथ पर बढ़ी होगी।

कविता का यही आदि-स्रोत है। मै यह सब आलोचक के नाते कह रहा हूँ, यदि कवि-रूप से कहना पडे तो उसकी मीमासा करने का अव-

काश मेरे पास न होगा। कविता कैसे लिखी जाती है, यह सचमुच में टेढ़ा प्रश्न है। इसका उत्तर केवल इस रूप मे दिया जा सकता है कि कविता लिख चुकने के पहले या बाद मन की जो परिस्थिति रह जाती है उससे कविता लिखने के समय की परिस्थिति की कल्पना की जाय। जैसे बाढ़ के उतर जाने पर किनारों पर बने हुए लहरो के चिन्ह रह जाय और उनसे लहरो के आन्दोलन की कल्पना की जाय। मै इसी मार्ग के सहारे, सम्भव है, अपने मन का चित्र आपको दे सकू।

अनेक बार ऐसा हुआ है कि बड़ी घटनाए मुझे प्रभावित नही कर सकी और छोटी से छोटी घटनाओ ने मुझे लिखने के लिए विवश कर दिया है। ऐसा क्यो हुआ है, मै नही कह सकता। सम्भव है, मेरी मानसिक परिस्थितियो मे बडी घटनाओ ने गहराई तक जाने की शक्ति न पाई हो और छोटी घटनाए मन मे पूरी तरह पैठ गई हो। बात कुछ वैसी ही रही हो जैसे पैंसिल बनाते समय चाकू लगने से उतना दर्द नही होता जितना अनायास आलपीन के चुभने से हो जाता है। जब तक खून उगली पर नहीं वह निकलता तब तक तो चाकू का लगना एक तीखी कटन लेकर ही रह जाता है। लेकिन आलपीन के चुभने से तो रोम-रोम सिहर उठता है। उसी प्रकार छोटी घटनाए कभी-कभी दिल हिला देती है, वे नावक के तीर की तरह गम्भीर घाव कर देती हैं।

जैसे ही यह घटना हृदय पर आघात करती है वैसे ही मन मे एक गम्भीरता आ जाती है, चाहे जितने विनोद की घटना हो। वह जब लेखनी से उतरने के लिए मचलने लगती है तो मन में गम्भीरता आ ही जाती है। क्योकि तब वह विनोद अपना अतरंग भाग अधिक से

अधिक बढ़ाने की चेष्टा करता है, अपना निर्माण करने लगता है और मन उसे स्वाभाविक से भी अधिक आकर्षक रूप देने के लिए कुछ सोचने लगता है। दूसरे शब्दो मे यह कह लीजिए कि जीवन की यह स्वाभाविकता कला का सहारा खोजने लगती है और अपने रूप को अमरत्व प्रदान करने के लिए बडी से बडी भावना की भूमि पर फैल जाना चाहती है। आप प्रश्न कर सकते हैं कि फिर आपके मन मे विचार किस तरह आते है ? मै स्वय नही जानता कि विचार किस तरह और कहाॅ से उठते है, लेकिन इतना अवश्य कह सकता हूॅ कि घटना जब मन पर चोट करती है तो मन मे विचारो की क्रिया और प्रतिक्रिया उसी तरह आरभ हो जाती है जिस तरह बारूद की बत्ती मे आग लगाने पर आग बारूद के कणो को जलाते हुए आगे बढ़ने लगती है और बारूद के कण जैसे उस आग को खीचते हुए अपने प्राणो तक ले जाना चाहते है। विचारो मे एक क्रान्ति सी होने लगती है और वे एक दूसरे से सघर्ष करते हुए आगे आने की चेष्टा करने लगते है। इस चेष्टा मे ऐसा भी सम्भव हो जाता है कि तत्काल उठे हुए विचारो मे ऐसे विचार भी उठते चले आते है जो बरसो पहले किसी विशेष परिस्थिति मे किसी विशेष घटना-स्थल पर उठे थ। मै यह तो कह सकता हूॅ कि जब काश्मीर मे प्रकृति की चित्रशाला मे बैठ कर मै 'हिमहास' लिख रहा था, उस समय प्रकृति का चित्र उपस्थित करते समय मेरे मन मे वे स्मृतियाॅ भी जाग उठी थी जो मैंने बुन्देलखड के पर्वतीय प्रदेशो के सौन्दर्य का अवलोकन करते समय प्राप्त की थी। ये स्मृतियाॅ प्रधान चित्र की सहायिका मात्र होकर आती है और सचारी भावो की तरह

स्थायी भाव को बल देती रहती है। भावो के इन्ही सघर्षो और आन्दोलनो मे मन खो जाता है और वह आनद मे झूमने लगता है। यह आनद मन को समस्त परिस्थितियो से ऊपर उठा देता है और वह भूल जाता है कि मै क्या और कैसे लिख रहा हूँ। तब भावनाए उसकी स्वामिनी बन जाती है और वह एक स्टेनोग्राफ़र की तरह अपनी स्वामिनी के भावो और शब्दो को ही नही, उसकी भृकुटि-भगिमा को भी लिखता चल जाता है। उसमे वह आत्म-विस्मृत हो जाता है तथा कविता और उसमे एक तादात्म्य-सा स्थापित हो जाता है। फिर यह जिज्ञासा उठती है कि कविता कैसे बन जाती है! मै यही कह सकता हूँ कि इन विचारो मे डूब कर जो मुख्य सवेदना कवि को मिलती है उसी के सूत्र को पकड़ कर वह अपनी प्रधान भावनाओ पर पैर रखता हुआ आगे बढ़ता जाता है और काव्य-रचना के शिखर पर पहुंच जाता है। जिस प्रकार मेरी छोटी बिल्ली मिनी पलग से झूलते हुए नमदे के एक छोर पर अपने तेज नाखून गड़ा कर ऊचे पलग पर चढ़ जाती है। कवि को मै ऐसी उपमा नही देना चाहता था लेकिन वस्तुस्थिति का चित्र कुछ ऐसा ही है। ऊपर ले जाने वाले भावो के क्रम मे कल्पना बिना प्रयास ही आगे बढ़ने लगती है और चित्र वैसे ही पूर्ण हो जाता है जैसे शैशव के कोमल क्षणो मे यौवन की मादकता आ जाती है। जिस प्रकार समय की गति अप्रतिहत रूप से बिना किसी को जतलाए हुए चलती जाती है और हम चौककर कह देते है, अरे इतनी जल्दी इतने वर्ष बीत गए, उसी तरह कविता शैशव की चपलता से उठकर अनायास यौवन मे सुसज्जित हो जाती है। यहा मैं उन कवियो

की बात नहीं कहता जो 'जमक' को जमाने के लिए या श्लेष का प्रवेश कराने के लिए शब्दो की बनावट और उनकी ध्वनि को मन की तराजू पर तौलते रहते है और शब्दो की प्रदर्शिनी सजाने के लिए घंटों प्रयास करते हैं। जो कविता का वरदान उसके स्वाभाविक रूप मे पाते हैं वे तो कविता मे उसी प्रकार बहते चले जाते हैं जैसे दीपदान मे संजोया हुआ दीपक प्रवाह मे नाचता हुआ चला जाता है।

ऊपर के कथन से यह स्पष्ट हो हाएगा कि कविता का परिश्रम से कोई सम्बध नहीं है। उसके लिखने मे प्रयास करना तो वैसी ही बात मालूम होती है जैसी गोपियो ने उद्धव से कही थी :

हम तें हरि कबहूँ न उदास,

तुम सों प्रेमकथा को कहिवो मनहु काटिबो घास

मेरे दृष्टिकोण मे 'प्रेमकथा' के स्थान पर 'कविता' आसानी के साथ रक्खी जा सकती है और परिश्रम करके लिखी हुई कविता घास काटने की क्रिया ही कही जा सकती है।

कविता किस प्रकार लिखी जाती है इसका कुछ सकेत गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने 'रामचरितमानस' मे किया है। वे लिखते हैं :

हृदय सिधु मति सीप समाना। स्वाती समूह कहहि सुजाना।

जो वरषै वर वारि विचारू। होहि कबित मुक्ता मनि चारू॥

हृदय तो सागर के समान है, और मति या कविता की भावना सीप के समान है जो हृदय-सागर मे डूबी हुई है। काव्य की प्रतिभा या सरस्वती स्वाती नक्षत्र के समान है। यदि इस अवसर पर सुदर विचारो का जल बरस जाय तो उस भावनारूपी सीप में कविता का मोती बन जाय।

सीप मे मोती का निर्माण एक अवसर-विशेष की बात है और यदि कहीं सौभाग्य ने ऐसा अवसर आ जाय तभी कविता की सृष्टि हो सकती है। श्रेष्ठ कविता भी सयोग से ही बनती है। वह भी प्रतिभा के किसी अवसर-विशेष पर जाग्रत होने पर।

अतः मै कविता को एक दैवी वरदान मानता हूँ जो किसी सुयोग से ही व्यक्ति-विशेष को मिलता है। यों तो लिखने मे कितनी ही लेखनियो घिस गई है किंतु वास्तव मे वही लेखनी सार्थक है जिससे श्रेष्ठ कविता अनायास ही निकल जाती है। अपनी कविता के सम्बन्ध मे मुझे कुछ कहने का अधिकार नहीं है, किन्तु भावनातिरेक मे मैने जो कविताएं लिखी है उनमे से एक कविता उपस्थित करता हूं :

प्रिय, तुम भूले मै क्या गाऊं

जिस ध्वनि सें तुम बसे उसे जग के कण कण में क्या बिखराऊं

शब्दों के अधखुले द्वार से

अभिलाषाएं निकल न पातीं

उच्छ्वासों के लघु लघु पथ पर

इच्छाए चल कर थक जाती

आह, स्वप्न संकेतों से मै कैसे तुम को पास बुलाऊं

प्रिय, तुम भूले मै क्या गाऊं

जुही सुरभि की एक लहर से

निशा बह गई डूबे तारे

अश्रु-बिन्दु में डूब डूब कर

दृग-तारे ये कभी न हारे

अपने दुख की इस जागृति में तुम्हें जगा कर क्या सुख पाऊँ
प्रिय, तुम भूले मैं क्या गाऊँ

अन्त मे मैं यही कहना चाहता हूँ कि कविता बिना किसी परिश्रम के आप से आप हृदय मे उठती है और रात्रि के निरभ्र आकाश से चमकते हुए तारो की भॉति फैल कर सार आकाश को व्याप्त कर लेती है। किसी भी कारीगर को, चाहे वह देवता ही क्यो न हो, एक-एक तारे को आकाश मे ठोक कर जडने की आवश्यकता नही पडती। सारे तारे एक साथ ही निकल आते है, जैसे किसी ने रत्नराशि के सामने का परदा हटा दिया हो और हमारी आंखे इस सौन्दर्य को देखकर आश्चर्यचकित हो गई हों।

आज का साहित्य



आज हम साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र मे कहां हैं, इसका परिचय हम किस प्रकार दें ? वर्तमान युग कष्टो की एक शृङ्खला है। यद्यपि युद्ध समाप्त हो गया है तथापि हम एक साधारण मानव की सुविधाओ के अधिकारी भी नही है। वस्त्र के लिए हमने अपना व्यक्तित्व दे दिया है, अन्न के लिए हमने अपनी आत्मा बेच दी है। पिछले वर्ष बगाल ने अपने न जाने कितने लाख लालो को इसी भूख की ज्वाला मे जला दिया। जहा आत्मा के ऊपर भूखा शरीर बैठ गया है, जहा क्रय-विक्रय के काटो पर रूप और शृगार तुल गया है, वहा ऐसी परिस्थितियो मे मानवता कराह रही है। दुर्भाग्य की बात है कि जनता मे इसकी प्रतिक्रिया नही हुई। यदि जनता दासत्व की शृङ्खला मे इतनी जकडी हुई है कि उसे अपने मानव जीवन का अभिमान नही है तो कम से कम कवियो और लेखको मे तो इसकी प्रतिक्रिया होती, वे तो जनता के कष्टो से सिहर उठते, किंतु हमने देखा कि हमारे लेखक और कवि अपने देश की इन परिस्थितियो से उदासीन बने रहे। उनके काल्पनिक ससार मे इस कठोर सत्य का प्रवेश नहीं हो सका। आज हिन्दी मे कितने उपन्यास है जो देश की इस भयानक परिस्थिति से प्रेरित होकर लिखे गए ? कितने नाटक है जिनसे देश की इस अर्धमृत और अर्धनग्न जनता के प्रति

सहानुभूति प्रदर्शित की गई, कितने खडकाव्य, महाकाव्य या मुक्तक-काव्य है, जिनमे जनता का यह करुण आर्त्तनाद गूज सका ? ऐसी रचनाएं हिन्दी ससार की व्यापकता को देखते हुए नही के बराबर हुई है। इससे तो यही ज्ञात होता है कि हमारा वर्तमान साहित्य जनता का साहित्य नही है। उसकी पक्तियो मे जनता के प्राणो का स्पदन नही है। वह न तो जनता से सहानुभूति रखता है और न जनता उसे अपना रही है। ऐसी परिस्थिति मे यह स्वाभाविक ही है कि हमारे साहित्य मे बडी सजधज के साथ प्रकाशित होने वाली रचनाए लोकप्रिय नही हो सकी। हमारे कवियो के कितने गीत है जो जनता की जवान पर चढ सके है ? कितने नाटक है जो गाव-गाव खेले गए है, कितने उपन्यास है जिनकी कथा-शैली मे जनता के कठ का द्रवित स्वर है ? स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द को छोड़कर कोई दूसरा उपन्यासकार नही, जिसने तिल-तिलकर मरने वाले होरी से भिन्न किसी दूसरे किसान को समझा हो, जिसने प्रेम और विग्रह की धूप-छाह से बनी पति-परायणा धनिया का प्रतिरूप उपस्थित किया हो। अपने जीवन मे घटित होने वाली, जीवन के चारो ओर अविराम गति से बहने वाली घटनाओ के प्रति यह उपेक्षा कैसी ? मुझे तो ज्ञात होता है कि अभी हमारे अधिकाश साहित्यकारो मे जीवन के वस्तुवाद को कलात्मक रूप से आत्मसात् करने की क्षमता नही आई। हमने वास्तविक जीवन की रूक्षता मे निहित सौन्दर्य नही पहिचाना। हम जीवन की भयानक सुन्दरता नही देख सके। विशिष्ट घटनाओ को उनके रूप मे सजाने पर एक जीवनगत सत्य और सौन्दर्य दीख पड़ता है। जिस प्रकार ऊट देखने मे बडा बेडौल मालूम होता है। लम्बी-लम्बी टागें,

टेढ़ी गर्दन, पीठ पर कूबड़, छोटी-सी पूंछ आदि। किन्तु जब यही ऊंट आपके प्रदेश की मरुभूमि में एक सीधी रेखा में क्रमबद्ध होकर अनेक ऊंटों के साथ चलता है और आप उसे प्रातःकाल या सन्ध्याकाल के धुंधले-से हलके प्रकाश में देखते हैं तो आपको मालूम होता है जैसे क्षितिज पर जीवन की लंबी लहर बल खाती हुई, धीरे-धीरे आगे बढ़ रही है। ऊंट के बेडौल आकार की विषमता, समता का रूप लेकर आपके नेत्रों को सौन्दर्य का निमन्त्रण देती है। इसी प्रकार जीवन की विषमताओं को एक क्रम में अथवा उनकी गतिशीलता में सजाकर हम जीवनगत सत्य का सौन्दर्य देख लेते हैं। यह हमारे अधिकांश कलाकारों द्वारा नहीं हो सका।

इन जीवनगत विषमताओं के चित्रण का—वास्तविक दारुण परिस्थितियों के चित्रण का—पूर्ण समर्थक होते हुए भी मैं आजकल के अधिकांश प्रगतिशील लेखकों या कवियों से सहमत नहीं हो सका। उन्होंने हमें जीवन के वास्तविक और सच्चे चित्र देने की चेष्टा की है किन्तु यह सत्य उन्होंने हमें तब दिया है जब उन्होंने साहित्य के समस्त सौन्दर्य को नष्ट कर दिया है। चिरन्तन साहित्य की कुछ मान्यताएं हैं। साहित्य केवल आज की संपत्ति नहीं है, वह परंपरागत संपत्ति है। लोक-कल्याण, सुरुचि और लालित्य उसकी नैसर्गिक विशेषताएं हैं। बिना सुरुचि और लालित्य के लिखा गया साहित्य किसी अखबार का संवाद-संग्रह मात्र माना जा सकता है। अतः जब हम आगामी परंपरा के जीवन और कल्याण की भावना से ही साहित्य का निर्माण करते हैं तो हमें सुरुचि और मानव-मन को आकर्षित करने वाले सौन्दर्य को ध्यान में तो रखना ही पड़ेगा।

प्रगतिशील लेखकों की रचनाओं में इन दोनों ही का अभाव है। वे तो जैसे साहित्य के समस्त नियमों को नष्ट भ्रष्ट करने में अपने उद्देश्य की पूर्ति देखते हैं। रूढ़ियां तोड़ना एक बात है और मान्यताएं नष्ट करना बिल्कुल दूसरी बात। हमारे इन लेखकों ने इन दोनों में कोई अन्तर नहीं रक्खा। एक सिरे से उन्होंने 'एटम बम' गिरा दिये हैं और उनके चारों ओर साहित्य की शोभा और श्री का संहार ही संहार दीख पड़ता है। मैं इन मित्रों से कहूँगा कि वे एक क्षण रुकें, साहित्य-सृजन एक उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्य है। वे सोचें और समझें कि वे क्या करने जा रहे हैं। पिछली शताब्दियों से आने वाले साहित्य में दर्जनों क्रांतियाँ हुईं किन्तु हमारे साहित्य की मान्यताएं नष्ट नहीं हो सकीं। आज सोशलिज्म के उधार लिए हुए विचारों के प्रदर्शन में वे साहित्य में केवल आग की लपट ही देखना चाहते हैं? उसकी सारी मान्यताओं में उच्छृंखलता का नग्न ताण्डव ही देखना चाहते हैं? मुझे भय है कि जिस तरह आज कम्यूनिस्ट दल कांग्रेस से अलग हो रहा है, उसी प्रकार ये प्रगतिशील लेखक कहीं हिन्दी साहित्य से निर्वासित न कर दिए जावें।

मेरा विचार तो यह है कि जनता के जागरण की वाणी लेकर हमारे कलाकार पूर्ण प्रगतिशील बनें किन्तु इस प्रगतिशीलता में साहित्यिक सुरुचि का ध्यान रहे। उनकी रचनाओं में भले ही रस-सञ्चार और अलंकार-प्रियता न रहे किन्तु फिर भी साहित्य के स्वस्थ सौंदर्य का ध्यान तो रहे। उनका साहित्य जनता से दूर न जाने पावे। साहित्य के लिए जनता से दूर जाने का अर्थ मृत्यु है।

प्रेरणाओं से सजीव संपर्क रखना ही साहित्य के लिए संजीवनी है।

और फिर वह साहित्य ही क्या जो समाज के कोष से पोषित होकर समाज का निर्माण न करे ? जिस प्रकार बीज से फूल उत्पन्न होता है और फिर वही फूल बीज की सृष्टि करता है, उसी प्रकार समाज से साहित्य उत्पन्न होता है और फिर वही साहित्य समाज के निर्माण में सहायक होता है। समाज की प्रेरणाओं से रहित कलाकार अपनी कल्पना की रचनाएं उसी प्रकार किया करता है जिस प्रकार कमरे के एक कोने में बैठी हुई एक मकड़ी जाला बुनती रहती है। उसे क्या ध्यान कि आज इस कमरे में बैठने के लिए कितने कवि या भले आदमी आए। उसे तो अपने जाले से काम, और जिस तरह मेरा नौकर उस जाले को एक दिन झाड़ू से साफ़ कर देगा, उसी तरह समय अपने वर्षों की झाड़ू से समाज के जीवन से रहित उन उलझी हुई कल्पनाओं को झाड़ कर साफ़ कर देगा। इसके पर्याय, जीवन के ओज से भरे हुए साहित्य की कांति प्रतिदिन उदय होने वाले सूर्य की भांति कभी पुरानी या धूमिल नहीं होगी और तब ऐसा कलाकार या कवि जनता का प्रतिनिधि होगा। निराशा में वह आशा के गीत गाएगा और मरण में जीवन की आरती सजाएगा। उसकी वाणी में वायु की गतिशीलता और तरलता आएगी जिसके स्पर्श मात्र से मुरझाए हुए मन एक बार फिर से चैतन्य हो जाएंगे। वह भारती के मन्दिर में अपनी स्वरलहरी से ऐसे गीत गाएगा कि जड़ भी चेतन हो जाएंगे, पराजित भी विजयी बन सकेंगे। ऐसे ही स्वरों में राठौड़राज प्रिथीराज ने एक 'साखरा गीत' गाया था।

नर तेथ निमाणा निलजी नारी, अकबर गाहक वट अबट
चौहटे तिण जायर चीतोड़ों बेचे किम रजपूत बट

और इस गीत से राणा प्रताप महाराणा प्रताप बने । क्या आज हमारे देश की पराधीनता मे ऐसे गीत नही गाए जा सकते ? रूस मे जो क्रांतियां हुईं, उनके पीछे साहित्य का बहुत बडा हाथ रहा । उपन्यास-कारो ने ऐसे कथानको की सृष्टि की जो देश के अन्तःकरण को झकझोर सकें। आज हिन्दी मे भी वैसे उपन्यास क्यो नही लिखे जा सकते ? प्रणय के प्रथम पाठ से ही उपन्यासका प्रणयन क्यो होता है ? हमारे देश मे तो रंगमच निर्मित ही नहीं हो पाया किन्तु जो नाटक विद्यार्थियो या सभा-समितियो के द्वारा खेले जाते है, उन मे हमारी समस्याओ पर प्रकाश क्यो नही डाला जाता ? ऐसी बहुत सी बाते है जिनका अभाव आज हमारे साहित्य मे खटक रहा है ।

यह तो ललित साहित्य की बात हुई । उपयोगी साहित्य का भी प्रश्न हमारे सामने है । वैज्ञानिक विषयो पर हमारे साहित्य मे बहुत कम काम हुआ है । प्रयाग की विज्ञान-परिषद् का प्रयत्न इस दिशा मे श्लाघ्य रहा है, किन्तु एक संस्था अपनी सीमित शक्तियो से कितना काम कर सकती है ? जब हम हिन्दी को कालेजो और विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रस्ताव रखते हैं तो उच्च कक्षाओ मे पढ़ाये जाने वाले पाठ्य-ग्रथो का प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो जाता है । हम अभी तक एम० ए० और एम-एस० सी० मे पढ़ाये जाने योग्य पाठ्य-ग्रन्थो को तैयार नहीं कर सके है । कठिनाई वैज्ञानिक विषयो मे विशिष्ट शब्दो (Technical Terms) के प्रयोग करने की है । निर्णय की बात यह है कि अंग्रेजी के ही विशिष्ट शब्दो का प्रयोग हिन्दी साहित्य मे हो या संस्कृत धातुओ के आधार पर उन शब्दों के हिंदी मे पर्याय बनाये

जाय। यद्यपि पहले दृष्टिकोण के पक्ष में कुछ विद्वान् अवश्य हैं किन्तु मेरे विचार से भाषा और साहित्य की एकरूपता के लिए उन विशिष्ट शब्दों के हिन्दी-पर्याय आवश्यक है। यह बात दूसरी है कि हम अन्तर्राष्ट्रीय सुविधा के लिए अंग्रेजी विशिष्ट शब्दो का प्रयोग भी सुविधानुसार कर ले, किन्तु हमारे साहित्य की समृद्धि के लिए और हमारी आवश्यकताओं को देखते हुए हमारे पास उच्चतम वैज्ञानिक शब्दावली का हिन्दी कोष भी मौजूद रहना चाहिए। यदि हम यह कोष तैयार कर ले तो उच्चतम कक्षाओं के पाठ्य-ग्रथ भी हम हिन्दी मे ही प्रस्तुत कर सकते है और विश्वविद्यालय की ऊंची कक्षाओं मे हिन्दी ही को माध्यम बना सकते है। डा० धीरेन्द्र वर्मा के निरीक्षण मे प्रयाग की भारतीय हिन्दी परिषद् ने इस दिशा मे प्रयत्न किया है और वैज्ञानिक विषयो के पारिभाषिक शब्द-कोष तैयार करने की योजना को बहुत कुछ आगे बढ़ाया है। परिषद् का यह कार्य अगले वर्ष तक समाप्त हो जायगा और हिन्दी को प्रतिष्ठित विशेषज्ञो द्वारा प्रस्तुत किया हुआ पारिभाषिक शब्द-कोष प्राप्त हो सकेगा जिससे पाठ्य पुस्तकों के निर्माण मे विशेष सुविधा होगी। प्रान्तीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के प्रश्न पर प्रयाग विश्वविद्यालय ने विचार-विनिमय किया है। इस समय तक उसने प्रत्येक विषय मे हिन्दी या उर्दू मे निबध का प्रश्नपत्र अनिवार्य कर दिया है। माध्यम की दिशा मे इसे पहला कदम समझना चाहिए। आशा है, इसी प्रकार अन्य विश्वविद्यालय भी इस दिशा मे प्रगतिशील होगे। हम उपयोगी साहित्य के लिए केवल पाठ्य-पुस्तके ही नहीं चाहते किन्तु ऐसा गभीर साहित्य भी चाहते है जिससे देश मे विज्ञान के विषय पर हिन्दी-

भाषा-भाषियों द्वारा खोज का कार्य भी सरलता से चलाया जा सके और आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति में हिन्दी के अनेक विद्वानों का सक्रिय सहयोग रह सके ।

साहित्य की समस्याओं के साथ भाषा का प्रश्न भी जटिल रूप धारण कर रहा है । हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू के रूपों को लेकर देश में जो अलग-अलग दल बन गए हैं, उनसे आप अपरिचित नहीं हैं । विश्व-वंद्य महात्मा गांधी ने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से अपना संपर्क हटा लिया है, यह बड़ी क्लेशकर बात है, किन्तु संतोष केवल उनकी इस बात पर है कि वे सम्मेलन से बाहर रहकर भी सम्मेलन की और अधिक सहायता कर सकेंगे । हिन्दी और हिन्दुस्तानी का नाम लेकर जो दल अपने-अपने तर्क उपस्थित कर रहे हैं, उनमें एक बात तो समान-रूप से वर्तमान है कि वे सभी देश की राष्ट्र-भाषा को अधिक से अधिक व्यापक और सुविधाजनक रूप देना चाहते हैं । मैं भी राष्ट्र-भाषा की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर इससे सहमत हूं किन्तु किसी भी भाषा से द्वेष न रखते हुए मैं यह बात स्पष्ट रूप से घोषित करना चाहता हूँ कि राष्ट्रभाषा वही होनी चाहिए जिससे राष्ट्र के अन्तर्गत निवास करनेवाले विविध प्रान्तीय भाषाओं के लोग भी अपनी भाषा-विषयक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें । आधुनिक भारतीय भाषाओं में हिन्दी, बंगाली, गुजराती, मराठी, पंजाबी, उड़िया और सिन्धी तथा द्रविड़ भाषाओं में तामिल, तेलगू, कन्नड और मलयालम प्रमुख हैं । हमें राष्ट्र-भाषा के निर्माण में इन सभी भाषाओं का ध्यान रखना होगा । भारतीय भाषाएं तो संस्कृत की परंपरा में है ही, द्रविड़ भाषाओं पर भी संस्कृत

का प्रभाव है। अतः हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में संस्कृत के ऐसे शब्द-समूहों से अपना संबंध बनाए रखना होगा जो इन विविध भाषाओं में समझे जाते हैं और व्यवहार में लाये जाते हैं। अतः राष्ट्रभाषा के मूलाधार में संस्कृत से निकली हुई भाषा-विषयक परम्परा ही होनी चाहिए। रही बात अरबी और फ़ारसी के शब्दों की जिनका प्रवेश कराना आजकल राष्ट्रभाषा में अनिवार्य समझा जाता है। अरबी, फ़ारसी या उर्दू (जो हिन्दी ही की एक शैली मात्र है) किसी प्रकार भी अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखी जा सकती। मुसलमानों के संपर्क से ही इस देश में अरबी और फ़ारसी के शब्दों को लेकर हिन्दी के क्रोड़ में उर्दू का जन्म हुआ और फल-स्वरूप हमारी भाषा में भी अरबी और फ़ारसी के सैकड़ों शब्दों का प्रवेश हुआ। ये शब्द आज भी हमारी भाषा में मिलकर हमारे हो गए हैं। इन्हें भाषा से अलग करना भाषा की हानि ही करना है। किन्तु जब हिन्दुस्तानी के रूप में लगभग उर्दू ही राष्ट्र-भाषा के लिए प्रस्तुत की जाती है तो विषय चिन्त्य हो जाता है। उर्दू, भाषा के रूप में कितनी व्यापक हो पाई है, इस संबंध में दो मत नहीं हो सकते। व्यावहारिकता में केवल उत्तरी भारत में वह विशुद्ध रूप से बोली और समझी जाती है, वह भी नगरों में, गाँवों में नहीं। नगरों में भी अशिक्षित जनता के द्वारा—प्रमुखतः मुसलमानों के द्वारा। नगरों के अशिक्षित मुसलमान भी स्थान-विशेष की बोली बोलते हैं। गाँवों में तो हिन्दुओं और मुसलमानों में भाषा-विषयक कोई भेद ही नहीं है। ऐसी स्थिति में उत्तरी भारत के कुछ नगरों के सांप्रदायिक दृष्टि-कोण रखने वाले कुछ व्यक्तियों के आग्रह से महाद्वीप के समान इस

विशाल देश की राष्ट्रभाषा प्रमुखतः अरबी और फारसी शब्दों में लदी हो जो अधिकांश राष्ट्र के लिए दुर्बोध हो, न्याय के विपरीत बात होगी। यह बात दूसरी है कि राजनीतिक आवश्यकताओं ने उर्दू-स्वरूपिणी हिन्दुस्तानी को बल दे दिया हो और देवनागरी लिपि के साथ ही साथ फारसी लिपि का सीखना भी अनिवार्य बना दिया हो, किन्तु देश की भाषा-विषयक परिस्थिति इस राजनीतिक आवश्यकता से मेल नहीं खाती। हाँ, हिन्दी को अधिक से अधिक सरल, सुबोध और स्वाभाविक बनाने के लिए केवल संस्कृत के तत्सम शब्द ही काम नहीं दे सकेंगे, हमें तद्भव, देशज और सरल अरबी, फारसी तथा अंग्रेजी शब्दों को भी स्वीकार करना होगा। विदेशी शब्दों को हम उसी स्थिति में स्वीकार करेंगे जब वे जनता के लिए सुबोध और सरल एवं भाषा के लिए अभिव्यंजनात्मक शक्ति के पूरक सिद्ध होंगे। अपरिचित, दुरूह, और बेमेल शब्दों को राष्ट्रभाषा में स्थान देना उसकी सुबोधता और प्रांतीय भाषाओं की स्वीकृति में बाधक सिद्ध होगा। मेरा प्रस्ताव तो यह है कि भारत में बोली जाने वाली प्रत्येक प्रान्तीय भाषा अपने व्यवहार में आने वाले अरबी, फारसी और अंग्रेजी शब्दों के अलग-अलग कोष तैयार करे। उन सब कोषों का मिलान करने से ज्ञात हो जाएगा कि कितने विदेशी शब्द समानरूप से देश की सभी भाषाओं में समझे जाते हैं। वे सब विदेशी शब्द तो राष्ट्रभाषा हिन्दी में रहेंगे ही। साथ ही साथ ऐसे शब्द जो किसी भाषा में विशेष रूप से प्रयुक्त होते है, विचार-विनिमय के बाद स्वीकृत किए जावेंगे। इस शैली से राष्ट्रभाषा का रूप सभी के लिए सुलभ और न्याय-संगत होगा। यों मैं भाषा के स्वाभाविक विकास में

विश्वास रखता हूँ किन्तु जब राजनीतिक और अन्य कारणों से कोई भाषा हम पर लादी जा सकती है, तो हम राष्ट्रभाषा के निर्माण में भी तर्क और युक्ति से काम क्यों नहीं ले सकते ? जहाँ तक लिपि से संबंध है, मैं निश्चित रूप से कहता हूँ कि हिन्दी या हिन्दुस्तानी की एक ही लिपि होनी चाहिए—और वह लिपि देवनागरी है जो संसार की सब से शुद्ध और सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है। यों अन्य लिपियों का सीखना बुरा नहीं है किन्तु यह वैकल्पिक हो, अनिवार्य न हो।

आल इंडिया रेडियो हिन्दुस्तानी के नाम से जिस ऊर्दू का प्रचार करना चाहता है, वह भाषा न तो हमारी संस्कृति की है, न हमारे संस्कारों की। आल इंडिया रेडियो अपनी नीति में दृढ़ और अटल है। साहित्य सम्मेलन ने अपने जयपुर-अधिवेशन में इस भाषा-नीति का घोर विरोध किया और उसे सक्रिय आन्दोलन का रूप दिया, किन्तु रेडियो-विभाग ने इसकी पूर्ण उपेक्षा की। हिन्दी के लेखकों और कवियों ने उसका पूर्ण बहिष्कार किया किन्तु रेडियो-विभाग ने इसकी ज़रा भी चिन्ता नहीं की। यदि की होती तो आज रेडियो की भाषा का रूप ही दूसरा होता। अपनी ख़ालिस उर्दू के बीच में 'देश', 'समाज', 'पूरब' और 'पच्छिम' जैसे दो चार शब्दों को स्थान देकर वे अपनी भाषा को हिन्दुस्तानी कहते हुए लोगों को भुलावे में नहीं डाल सकते। राष्ट्रभाषा के संबंध में मैं अपना मत स्पष्ट कर ही चुका हूँ। ऐसी ही राष्ट्रभाषा में रेडियो से संवाद वितरित हों। रेडियो ने सम्मेलन के आन्दोलन को जिस उपेक्षा-भाव से देखा है, वह हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए असह्य है। मालूम होता है कि इस उपेक्षा की जड़ बहुत गहरी है और इस जड़

का पोषण भी किसी अदृश्य स्रोत से हो रहा है। हमें अपने आन्दोलन को अधिक दूर तक पहुँचाना होगा और तब हमारी समस्या के हाल की सूरत नजर आएगी।

यह एक आश्चर्य की बात है कि जहाँ भाषा के निर्माण के लिए लोग प्रयत्नशील हैं, वहाँ भाषा के सुधार के लिए लोग प्रयत्नशील नहीं है। लेखको, कवियो और पत्रकारो द्वारा भाषा की सुचारुता पर जो आघात हो रहे है, उनकी ओर हमने ध्यान ही नहीं दिया है। इस सबंध मे श्री रामचन्द्र वर्मा ने 'अच्छी हिन्दी' पुस्तक लिखकर हिन्दी लेखको और विद्यार्थियो का विशेष उपकार किया है। मै तो चाहता हूँ कि उस प्रकार की पुस्तके अधिक से अधिक संख्या मे प्रकाशित हो और अनिवार्य रूप से हिन्दी भाषा-भाषियो के हाथ मे रक्खी जावे। इस सुधार को एक आन्दोलन का रूप देना उचित होगा। मै तो आज देखता हूँ कि भाषा के बोलने के सबध मे अधिक से अधिक लापरवाही बरती जाती है। मेरे विश्वविद्यालय ही मे किन्ही दो विद्यार्थियो की बातचीत सुन लीजिए। उनके सारे वार्तालाप में सभवतः एक भी वाक्य ऐसा न होगा जिसे आप अच्छी हिन्दी कह सके। उदाहरण के लिए मेरे एक विद्यार्थी ने एक दिन मुझ से कहा—"डाक्टर साहब, आप उस मीटिंग मे प्रेजेंट नहीं थे। बड़ा इंटरेस्टिंग डिसकशन हुआ। मै स्पीकर के प्वाइंट आव व्यू से एग्री नहीं कर सका और मैने ऐसी फोर्सफुल स्पीच डेलीवर की कि आडिएन्स वाज मूव्हड कम्प्लीटली एंड दि हाउस वाज इन माइ फेवर।' मैने उसे उसी समय रोक कर कहा कि मै नहीं समझा। जरा हिन्दी मे कहिए। वह लज्जित हुआ और 'एक्सक्यूज़ मी' कह कर चला गया।

उसने 'क्षमा कीजिए' नहीं कहा। यह हिन्दी है जो आजकल हमारे विद्यार्थी बोलते हैं। इन्हें अपनी भाषा के लिए कोई गौरव नहीं है, जैसा मुँह मे आता है, वैसा ही बोलते चले जाते हैं। शायद उन्होंने एक क्षण कभी यह नहीं सोचा कि भाषा के प्रति भी उनका कोई कर्त्तव्य है। यह तो किसी जमाने मे अपनी भाषा मे अंग्रेजी शब्दों का मिश्रण शिक्षित और सुसंस्कृत कहलाने का माप-दंड समझा जाता था, किन्तु अब यह बात नहीं रही। अब तो पश्चिमी वातावरण ने अंग्रेजी की बाहें बहुत लम्बी कर दी है। उस दिन बाजार मे खड़ा एक ग्रामीण कह रहा था— "ई ससुर कण्ट्रोल का आटा तो सिमिन्ट अस दिखात बा।" यह बात छोड़िए, किन्तु यदि अंग्रेजी की संज्ञाओं, उसके विशेषणों और क्रिया-विशेषणों के मिश्रण की यही प्रवृत्ति भाषा मे रही तो आज से सौ वर्ष बाद हिन्दी से संघर्ष लेने के लिए आज की हिन्दुस्तानी की भाँति कोई इंगलिस्तानी भाषा खड़ी होगी और वही राष्ट्रभाषा होने के लिए हिन्दी से युद्ध करेगी। भाषा-सुधार के संबंध मे हमारा जो गम्भीर उत्तरदायित्व है, उसे अभी हम आँख खोल कर नहीं देख सकते, यह हमारा नैतिक पतन है।

अपने साहित्य-निर्माण के सम्बन्ध मे मुझे कहना तो बहुत है लेकिन समय के अभाव मे मैं कुछ बातें संक्षेप मे ही कहूँगा। साहित्य की उन्नति के लिए हमे एक सप्तवर्षीय योजना बनानी चाहिए। यह योजना या तो साहित्य सम्मेलन की ओर से हो, या नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से। जो संस्थायें इस कार्य मे योग दे सकती हैं, या देना चाहती हैं, वे अपने को योजना चलाने वाली संस्था से सम्बद्ध करा लें। इस

योजना मे हमे साहित्य को समृद्ध और अग्रशील बनाने के लिए समस्त साधन जुटाने चाहिए। इस कार्य की योजना मे कम से कम पाँच लाख की निधि एकत्र की जाय और प्रत्येक वर्ष मे उठाये जाने वाले विषयो का वर्गीकरण कर दिया जाय। फिर उस विषय के विशेषज्ञो की समितियो का संगठन हो और विशेषज्ञो को उत्साहवर्धक पारिश्रमिक देकर एक निश्चित अवधि के भीतर आयोजित कार्य की सपूर्ण सामग्री संकलित कर ली जाय। तत्पश्चात उसका एक विशिष्ट समिति द्वारा सपादन और प्रकाशन हो और इस तरह उस वर्ष का कार्यक्रम समाप्त कर दिया जाय। यदि पाच वर्षों मे यह कार्य समाप्त न हो तो अवधि बढ़ाई जा सकती है। अथवा इस योजना को दो भागो मे विभाजित कर दो या तीन सस्थाए एक साथ ही अपना कार्य चला सकती है। ये सस्थाए चाहे जिस तरह तरह विषय का वर्गीकरण करें किन्तु हमारे साहित्य की जो प्रमुख आवश्यकताए है उनकी ओर मै आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ :

१—हमारे साहित्य मे प्राचीन कवियो और लेखको की रचनाओं के सुसपादित सस्करणो की बहुत कमी है। जब तक ये सस्करण प्रामाणिक रूप से संपादित नही किए जावेंगे तब तक हम अपने प्रसिद्ध कवियो या लेखको की रचनाओ के मूल्यांकन में कहा तक आश्वस्त हो सकते हैं? हमारे देश भर मे प्राचीन हस्तलिखित ग्रथ बिखरे पडे हैं। उन्हें एकत्रित करने के लिए कोई भी अखिल भारतवर्षीय प्रयत्न नही हुआ। नागरी प्रचारिणी सभा ने इस क्षेत्र मे अवश्य प्रशसात्मक कार्य किया किन्तु उसका क्षेत्र सीमित रहा और धन-बल न होने के कारण

कार्यकर्त्ताओं द्वारा संतोषजनक रूप से कार्य चल नहीं सका। प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी विद्यापीठ उदयपुर ने राजस्थान से हिन्दी के हस्त-लिखित ग्रंथों की खोज का प्रथम भाग प्रकाशित किया है। श्री जनार्दन राय, प्रधानमंत्री, हिन्दी विद्यापीठ, उदयपुर ने इस कार्य का सञ्चालन बड़ी योग्यता से किया है। राजस्थान कवियों और चारणों की जन्मभूमि होने के कारण हस्तलिखित ग्रंथों का भंडार सा है। यहां अनेक ग्रंथों की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ मिलेंगी। संपादन करने वाले विद्वान् जानते हैं कि हस्तलिखित प्रतियों के वंश और कुल होते हैं जिनकी शाखाएं चलती हैं। कभी-कभी अति आधुनिक काल का हस्तलिखित ग्रंथ विश्वस्त और प्रामाणिक कुल का होने के कारण अधिक मान्य होता है और कभी-कभी प्राचीन-काल का हस्तलिखित ग्रंथ किसी दूर की शाखा का होने के कारण विश्वस्त नहीं माना जाता। इसलिए एक ग्रंथ की अनेक हस्तलिखित प्रतियों को यों ही नहीं छोड़ देना चाहिए किन्तु उनके पाठान्तर के दृष्टिकोण से उनके कुलों का निर्णय करना चाहिए और अत्यन्त विश्वस्त कुल का पाठ स्वीकार होना चाहिए। इस कार्य के लिए विद्यापीठ को संपादन-कला में दक्ष अनेक विद्वानों को निमन्त्रित करना चाहिए। मुझे उस दिन अत्यन्त प्रसन्नता होगी जब विद्यापीठ सारे देश में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज कर प्राचीन कवियों के प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत करने में समर्थ होगा। विद्यापीठ के इस मंगल-कार्य में देश की सभी संस्थाओं को सहयोग देना चाहिए।

२—दूसरी आवश्यकता यह है कि हमें देश के समस्त प्रान्तीय

साहित्य से अपना सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। यह सम्पर्क दो प्रकार से स्थापित हो सकता है। एक तो इस तरह कि हम अपने विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में इन प्रान्तीय भाषाओं को वैकल्पिक विषय बनावे (जैसा सम्मेलन के हिन्दी विश्वविद्यालय के 'रत्न' का पाठ्यक्रम है) और अपनी आगे आने वाली परंपरा के हृदय में अन्य प्रांतीय साहित्यों के प्रति सहानुभूति का बीजारोपण करें और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि हम प्रत्येक प्रांतीय साहित्य के उत्कृष्ट ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद करना प्रारंभ करदें। इससे हम हिन्दी का भाव-क्षेत्र जितना अधिक विस्तृत और व्यापक बनायेंगे उतना ही अधिक उसे अन्य प्रांतीय भाषाओं की गति-विधि के अनुकूल भी बना सकेंगे। यदि इसके लिए हम प्रांतीय भाषाओं के उत्कृष्ट कलाकारों की एक समिति का संगठन करें तो यह एक अभूतपूर्व व्यवस्था होगी।

३—तीसरी आवश्यकता वैज्ञानिक साहित्य के प्रणयन की है। इसका उल्लेख मैं ऊपर कर चुका हूँ। इस साहित्य के द्वारा हम कालेजों और विश्वविद्यालयों में हिन्दी के माध्यम से ऊँची से ऊँची शिक्षा दे सकते हैं और राष्ट्र के सभी प्रकार के उपयोगी ज्ञान को अपने अध्ययन की परिधि में ला सकते हैं।

४—चौथी आवश्यकता अपने समालोचना-शास्त्र को व्यवस्थित करने की है। आज जिन दशाओं में और जिन प्रभावों में साहित्य-सृजन हो रहा है उनका मूल्यांकन संस्कृत के प्राचीन समालोचना-शास्त्र से नहीं किया जा सकता। साथ ही हमारे भारतीय जीवन के क्रोड में लिखा हुआ और हमारे संस्कारों से सम्पन्न साहित्य केवल पश्चिमी-

भाषाओं के प्रभावों के कारण ही, एकमात्र पश्चिम के मापदंड से नहीं मापा जा सकता। इसलिए प्राचीन और आधुनिक समालोचना-शास्त्र के समन्वय से हमें अपने साहित्य के लिए एक नवीन समालोचना-शास्त्र का निर्माण करना चाहिए जिससे हम अपनी राजनीति, समाज और साहित्य की परिस्थितियों में लिखी हुई रचनाओं को पश्चिमी विचार-धारा के प्रभावों की दृष्टि से भी उचित ढंग से समझ सकें। यह कार्य किसी महत्वपूर्ण संस्था के द्वारा ही होना चाहिए जो प्राचीन और आधुनिक साहित्यों के विद्वानों की एक समिति की आयोजना करे और साहित्य पर प्रभावों का विश्लेषण करते हुए अपने साहित्यिक आदर्शों को स्थिर कर सके।

५—पाँचवीं आवश्यकता हमारे ग्राम-गीतों के संकलन की है। यद्यपि यह योजना बहुत वर्षों से चल रही है किन्तु इस कार्य को व्यवस्थित रूप में चलाने का प्रयत्न अभी तक नहीं हुआ। हमारा देश कृषि-प्रधान होने के कारण ग्रामों से परिपूर्ण है। उन्हीं की उन्नति और विकास पर हमारे राष्ट्र का विकास अवलंबित है। ग्रामों की उन्नति उनकी भाषा और संस्कृति को ठीक ढंग से समझने और उनकी व्यवस्था के संबंध में सक्रिय होने में है। हमारे ग्राम ही हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र हैं। उनके पास हमारे आदर्शों, व्यवहारों और मनोविज्ञान का ऐसा कोष है जिसकी अवहेलना कर हम अपना व्यक्तित्व खो देंगे। जीवन के सरल और गहरे मनोविज्ञान की पवित्र गंगा हमारे ग्रामगीतों में तरंगित हो रही है। वह पश्चिमी शिक्षा के वस्तुवाद की ऊष्मा से प्रतिदिन सूख रही है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम युग-युग से चले आने

वाले उस सांस्कृतिक इतिहास की रक्षा करें। ग्राम-गीतो की अत्यन्त हृदय-ग्राही अनुभूतियां हिंदी काव्य के लिए प्रेरणाएं प्रदान कर सकती हैं। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने इस सम्बन्ध मे कदम उठाया था। उनके बाद इस क्षेत्र मे कोई विशेष कार्य नही हुआ। प्रांतीय सम्मेलनो में ग्रामगीत, लोकोक्तियां, कहावतें आदि एकत्रित करने के प्रस्ताव तो अवश्य स्वीकृत होते है किंतु उनके अनुसार कार्य नही किया जाता। ग्रामो के ऐसे सैकड़ो तद्भव शब्द है जो राष्ट्रभाषा हिन्दी मे स्वीकार किए जा सकते हैं और जिनसे हमारी भाषा की अभिव्यजनात्मक शक्ति में वृद्धि हो सकती है किंतु इस महान् भाषा और साहित्य-सपत्ति पर अभी तक हमारा ध्यान गया ही नही। इस सम्बन्ध मे मै श्री बनारसीदास चतुर्वेदी से सहमत होते हुए भी जनपद साहित्य को प्रश्रय देने का समर्थन करता हूं। यह जनपद साहित्य हमारी राष्ट्रभाषा के लिए अपरिमित बल का स्रोत होगा क्योकि उसका सम्बन्ध देश के एक विशाल जन-समुदाय से होगा। ग्रामगीतो, कहावतो और लोकोक्तियो का सकलन ऐसे साहित्य के निर्माण का पहला कार्यक्रम होना चाहिए।

६—हमारी छठी आवश्यता भाषा और लिपिसुधार की है। भाषा की सरलता, सुबोधता और भाव-व्यजक शक्ति को हमे अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक बनाना है। इसी प्रकार लिपि मे हमे ऐसे संशोधन मान लेना चाहिए जो अक्षर-विज्ञान के सिद्धान्तो के विरोध मे न होते हुए आधुनिक मुद्रण-कला के गुणो को अपना सकें। इस सम्बन्ध मे साहित्य सम्मेलन ने अवश्य कुछ कार्य किया है किंतु वह अभी तक सर्वमान्य नहीं हो सका। उस कार्य को गति देने की बड़ी आवश्यकता है। इसके

साथ ही 'टाइप राइटर'-के अक्षरक्रम और अक्षर-सौंदर्य पर भी ध्यान देना आवश्यक है। इसके बिना हमारी पाडुलिपियों की बड़ी दुर्दशा हो रही है।

७—सातवीं आवश्यकता अपने प्रकाशन कार्य को सयोजित और नियन्त्रित करना है। आजकल हमारा साहित्य अपनी आवश्यकताओं को न देखते हुए मनमाने ढग पर प्रकाशित हो रहा है। कहानियों की बाढ़ ने तो हमे आक्रात कर दिया है। केवल कहानी के ही अनेक मासिक पत्र हिन्दी मे निकल रहे है। यदि इन मासिक पत्रो की कहानिया उच्च कोटि की होती तो हमे सतोष हो सकता है, किन्तु ये कहानिया वासना के चित्रो को अत्यन्त नग्न रूप से उपस्थित करती है जिनसे हमारी रुचि विकृत हो सकती है। हमारे साहित्य को ऐसी कहानियो की आवश्यकता नही है। देश के इस नव जागरण मे हमे साहित्य के अन्य अगो के विकास की आवश्यकता है। हम उनके प्रकाशन की ओर ध्यान ही नहीं दे रहे है। हमारे साहित्यकार भी आर्थिक दुर्दशाओ मे पडकर जनता के मनोरञ्जन के लिए उन्ही के मनोविज्ञान के अनुरूप साहित्य लिखते चले जा रहे हैं। उन्हे रुककर अपने उत्तरदायित्व की ओर देखना चाहिए। श्रीमती महादेवी वर्मा द्वारा सस्थापित 'साहित्यकार ससद' से हमे ऐसी आशा हो रही है कि वह हमारे लेखको की आर्थिक दशा सुधारते हुए उनकी कृतियो के प्रकाशन का मार्ग-निर्देश भी करेगा।

इनके अतिरिक्त हमारी अनेक आवश्यकताए है। हिन्दी के केन्द्र मे रेडियो स्टेशन की स्थापना, कवि-सम्मेलन का नियन्त्रण और उसका

उपयोग, हिन्दी में खोज कार्य की गतिशीलता और अपने साहित्यकारों के अभिनन्दन आदि अनेक कार्य हैं जिन्हें हम संगठित रूप में चला सकते हैं। हमें प्रयत्न करना चाहिये कि हम अपने रंगमंच का विकास भी कर सकें। हमें एक नाट्य-संघ की स्थापना करना चाहिये जिसमें हम रंगमंच की स्वाभाविकता, व्यावहारिकता और सौन्दर्य-सृष्टि के आदर्शों पर विचार करें। वेश-विन्यास की सांस्कृतिक और सामाजिक रूपरेखा, यवनिकाओं की उपयुक्तता, संगीत की उपादेयता आदि पर हम विशिष्ट विद्वानों के भाषण और विचार-विनिमय की आयोजना करें। साथ ही प्रतिष्ठित नाटककारों के नाटकों के अभिनय भी प्रस्तुत करें। इस दिशा में श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का प्रयास सराहनीय है। नागरी प्रचारिणी सभा और प्रयाग विश्वविद्यालय ड्रामेटिक एसोसियेशन के द्वारा श्री जयशंकरप्रसाद के चन्द्रगुप्त का सफलतापूर्वक अभिनय हमारे गौरव की बात है। हम चाहते हैं कि साहित्य-सम्मेलन के प्रत्येक वार्षिक अधिवेशन पर हमारे किसी प्रतिष्ठित नाटककार के नाटक का एक सुन्दर अभिनय हो जाया करे। अभी तो हमें श्री जयशंकरप्रसाद के सभी नाटकों को रंगमंच पर लाने की चेष्टा करनी चाहिए।